हिंदी-निबंध

[विविध शैलियों के उत्कृष्ट हिंदी-निबंधों का प्रतिनिधि-संग्रह]

संपादक

विजयशंकर मल्ल, एम्० ए०

राकेशगुप्त, एम्० ए०, डी० फिल्०

प्राध्यापक, हिंदी-विभाग, काशी विश्वविद्यालय

प्रकाशक

विद्या-मंदिर

ब्रह्मनाल, बनारस

वितरक

वाणी-वितान

गढ़वासी टोला, बनारस—१

मूल्य : २।)

संवत् : २००७

संस्करण : प्रथम

प्रतियाँ : २०००

मुद्रक

परेशनाथ घोष,

सरला प्रेस, बाँसफाटक, बनारस
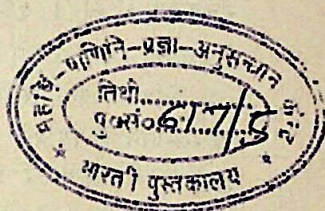
पीठिका

हिंदी के 'निबंध' और अँगरेजी के 'एसे' के मूल अर्थ में बहुत अंतर है। 'निबंध' का अर्थ है 'विशेष रूप से संघटित रचना' जिसके द्वारा एक ओर तो उसका लाघव व्यक्त होता है और दूसरी ओर विषय-प्रतिपादन को व्यवस्थित पद्धति और उसकी काया का अच्छा गठन। 'एसे' का मूल अर्थ है 'प्रयास' या 'प्रयत्न'—मस्तिष्क में दुबके हुए किसी भाव या विचार की अभिव्यक्ति का प्रयास। यहाँ भी आकार का छोटापन तो ध्वनित होता है पर पूर्णता और बंध की निगूढ़ता का अभाव भी व्यक्त होता है। इन दोनों शब्दों के व्युत्पत्त्यर्थ में इतना भारी अंतर होने पर भी 'निबंध' शब्द अपने मूल रूप में न गृहीत होकर 'एसे' के अनुवाद अथवा पर्याय के रूप में ही आधुनिक साहित्य में प्रचलित किया गया है और इसका प्रचलन करनेवाला व्यक्ति इन शब्दों द्वारा ध्वनित रचना की लघुता का ही ध्यान रखकर नहीं चला है बल्कि वह विवेकपूर्वक अँगरेजी साहित्य के भीतर 'एसे' नाम से अभिहित तरह तरह की प्राचीन-अर्वाचीन रचनाओं का पूरा ध्यान रखते हुए इस निर्णय पर पहुँचा है। वहाँ विविध विषय के लेखों और प्रबंधों को भी लेखकों ने 'एसे' कहा है और मान्टेन की कल्पना-रंजित, स्वच्छंद और आत्मीय रागयुक्त रचनाओं तथा बेकन की गुरु-गंभीर विचार-प्रधान

रचनाओं को भी । इस वैविध्य को ही देखकर किसी ने कहा है कि निबंध वह रचना है जो निबंधकार के द्वारा लिखी गई हो !

विभिन्न विषयों पर लिखे साधारण लेखों को भी निबंध की संज्ञा परंपरा-प्राप्त है पर यदि यह साहित्य का एक विशेष भेद है तो इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ निर्धारित करनी ही होंगी । विविध विषयों पर लिखे साधारण लेखों को छोड़कर यदि विचार करें तो साहित्य के निबंधों की दो श्रेणियाँ बहुत ही स्पष्ट हो जाती हैं जिन्हें परिबंध निबंध (विषयनिष्ठ) और निर्बंध निबंध (व्यक्तिनिष्ठ) का नाम दिया जा सकता है ।

परिबंध निबंध में आकार की लघुता और प्रायः थोड़ा-बहुत अधूरापन भी रहता है पर उसमें संगति और व्यवस्था का पूरा ध्यान रखा जाता है । उसकी विचार-भूमि एक नमूने पर कटी-छँटी, सजी-सजाई और उर्वर होती है । इसमें विषय की प्रधानता सदा रहती है और लेखक का व्यक्तित्व यद्यपि अन्य रचना-प्रचारों की अपेक्षा अधिक खुलकर सामने आता है पर उसके स्वतंत्र पर्यवेक्षण, विषय के मार्मिक विवेचन और अर्थगांभीर्य का ध्यान भी बराबर रखा जाता है । इस प्रकार के सबसे अच्छे निबंधकार रामचंद्र शुक्ल हैं जिनमें विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन में वैज्ञानिक की सी यथातथता, सूक्ष्मता और सतर्कता रहती है तथा भावों को प्रेषित करने, अनुकूल भावमय वातावरण उत्पन्न करने, संवेदना लाने और व्यक्तित्व की व्यंजना करने में साहित्यिक की पूरी सहृदयता । इनका कहना है कि निबंध में 'सब अवस्थाओं में कोई बात अवश्य चाहिए ।' इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि विषय की प्रधानता ये स्वीकार करते हैं । व्यक्तित्व की व्यंजना निबंध की एक बड़ी विशेषता है यह तो ये मानते हैं पर उसके स्वरूप का निर्णय इस प्रकार करते हैं— 'संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है । अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है,

किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले रहते हैं। तत्त्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता रहता है। यही उसकी अर्थसंबंधी व्यक्तिगत विशेषता है।' इसके साथ ही निबंधकार और तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक में अंतर यह है कि एक की रचना में हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष दोनों का सम्यक् योग रहता है तो दूसरे की रचना में केवल तर्कसंमत बुद्धि-पक्ष का विस्तार।

निर्बंध निबंध लेखक की स्वच्छंद मनःस्थिति की रचना है। यह बंध-विहीन है गद्य-रचना की बाहरी स्थूल व्यवस्थाओं से और बँधी है लेखक के मन की तरंगों से। निबंधकार के प्रातिभ ज्ञान द्वारा निर्धारित मानवीय संवेदनाओं की परिधि ही उसकी सीमा है। आकस्मिक रूप से उदित कोई भाव, कोई घटना, बातचीत का कोई प्रसंग, किसी पुस्तक या समाचारपत्र की कोई पंक्ति—लेखक के मन में सहसा विचारों की लड़ी प्रस्तुत कर निर्बंध निबंध का पूरा ढाँचा खड़ा कर देती है।

ऐसे निबंध में विषय का नहीं लेखक के व्यक्तित्व का ही महत्त्व होता है। निबंध में जो बातें कही गई हैं उन बातों को कहनेवाला व्यक्तित्व कैसा है और उसके कहने का ढंग कैसा है, पाठक यह देखता है। इस तरह का लेखक किसी प्रचलित या नवीन दृष्टिकोण को किसी पर लादना नहीं चाहता बल्कि अपनी असंदिग्ध स्थिति बतलाना चाहता है, अपने को सामने लाना चाहता है—नियमानुवर्ती शेष सृष्टि के प्रति अपनी निजी प्रतिक्रियाओं और अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं से पाठक को परिचित कराकर। इस तरह के निबंधकार में शेष सृष्टि

के प्रति अपनी प्रतिक्रियाओं को जानने के लिए पर्याप्त अनुभूतिप्रवणता और आत्माभिव्यक्ति करने के लिए पूरी भावज्ञता अपेक्षित होती है। निबंध निबंध या व्यक्तिनिष्ठ निबंध की इसी विशेषता के कारण पाश्चात्य समीक्षकों ने गद्य के क्षेत्र में उसका वही स्थान निर्दिष्ट किया है जो पद्य के क्षेत्र में प्रगीत का है।

यद्यपि ऐसा कोई नियम नहीं है पर परंपरा से ऐसे निबंधों की प्रवृत्ति प्रायः आलोचनात्मक और व्यंगमयी होती है। रोचकता इसकी सफलता और लोकप्रियता का प्राण है। अंगरेजी-साहित्य की भाँति हिंदी साहित्य में भी पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा ही इस रचना-प्रकार का विकास हुआ है अतः स्वाभाविक ही है कि रंजकता इसमें पूरी हो। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, अति सामान्य विषयों का सहारा लेकर निबंध निबंध का लेखक व्यक्तित्व की व्यंजना करता है, जैसा कि कुछ शीर्षकों से ही मालूम पड़ जायगा यथा 'आप' 'भौं' 'धोखा' 'दाँत' 'बातचीत' 'खटका' 'कुछ' 'वहस की बात' 'अपूर्ण' 'कहानी नहीं' 'रामकथा' 'गीतशील चिंतन' 'आम फिर बौरा गए' आदि।

रचना-स्वरूप की दृष्टि से निबंध निबंध कहानी से बहुत कुछ मिलता जुलता है। प्रायः कोई न कोई कथा-प्रसंग या इस तरह का कोई रोचक वातावरण इसमें रहता ही है। आकार का छोटापन और अपने आपमें पूर्ण अपूर्णता या एकांगिता किसी न किसी रूप में निबंध और कहानी दोनों में मिलती है। इन दोनों का ही आरंभ आकर्षक और अंत प्रभावोत्पादक होता है।

इस प्रसंग में एक बात कहनी आवश्यक है। वैसे इस जमाने में भारतीय और अभारतीय की चर्चा करना दकियानूसी समझी जाती है पर यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र में भारतीय चिंताधारा निरुद्देश्य काल्पनिकता और मनोरंजन के स्थान पर बहुत कुछ आदर्श-

मूलक अतः उपदेश-प्रधान रही है। यह परंपरा प्रकट या प्रच्छन्न रूप में हिंदी के निबंध निबंधों में भी अधिकतर दिखाई देती है—चाहे वे निबंध भारतेंदु-युग के हों चाहे वर्तमान युग के। अधिकांश निबंधों के बारे में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे निरुद्देश्य नहीं हैं, कहीं न कहीं कोई उद्देश्य उनमें जरूर छिपा है।
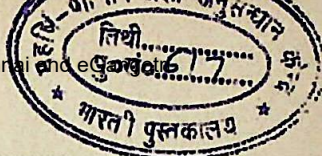
निबंध में अन्य रचना-प्रकारों की अपेक्षा औपचारिकता (फार्मेलिटी) काम या नहीं होती और इसके भीतर पाठक और लेखक का एकदम सीधा संबंध स्थापित हो जाता है। लेखक और पाठक के बीच आत्मीयता स्थापित हो जाने से निबंध में रचना-विन्यास की स्थूल व्यवस्थाओं का बहुत कुछ परिहार हो जाता है। वास्तव में उत्कृष्ट निबंध एक खुला पत्र है जो किसी व्यक्ति-विशेष को संबोधित करके तो नहीं लिखा गया होता पर जो भी सहृदय पाठक उसे पढ़ता है वही समझता है कि यहाँ लेखक मुझे संबोधित कर रहा है।

निबंध चाहे किसी प्रकार का हो पर कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो कम या अधिक मात्रा में सभी जगह दिखाई देती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि निबंध अपेक्षाकृत एक छोटी रचना है। यद्यपि इस नियम के अपवाद भी हैं। यों तो कुछ लेखकों ने पुस्तकाकार प्रबंधों को भी निबंध कह डाला है पर इन्हें छोड़ दें तो साहित्यिक निबंधों में भी कुछ बड़े आकार की रचनाएँ मिल जाएँगी। किंतु साधारणतः यह छोटा होता है।

लघुता के कारण स्वभावतः इसमें अपूर्णता या अधूरापन रहता है। यह अपूर्णता या तो विषय के किसी एक ही अंग पर प्रकाश डालने से हो सकती है या पूरे विषय की साधारण रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करने से। साधारण लेख की अपूर्णता पूर्ण होने की अपेक्षा रखती है; उसे बढ़ा कर पुस्तकाकार किया जा सकता है पर आदर्श साहित्यिक निबंध की

अपूर्णता अपने आपमें पूर्ण होती है। प्रभाव की दृष्टि से वह ऐसे मनोवैज्ञानिक स्थल पर समाप्त होता है कि उसे खींचकर आगे बढ़ाना अपेक्षित नहीं होता।

भावमयता का योग अच्छे निबंध में बराबर देखा जाता है क्योंकि निबंधकार इस क्षेत्र में अपनी पूरी सत्ता—ज्ञानात्मक और भावात्मक के साथ चलता है। निबंध में जब कि लेखक का व्यक्तित्व व्यंजित होता है तब यह आवश्यक ही है कि इसमें उसके हृदय पक्ष का भी सम्यक् योग हो। निर्बंध निबंधों की तो बात ही क्या जिन्हें अँगरेज समीक्षक प्रगीतों के समान बतलाते हैं—परिबंध निबंधों में भी मर्मस्पर्शी भावात्मकता एक आवश्यक गुण माना जाता है। रामचंद्र शुक्ल के कई विचार-प्रधान निबंधों में गहन विचार-वीथियों के बीच बीच में सरस भाव-स्रोतों का विधान मिलता है। 'उनके लोभ और प्रीति' 'श्रद्धाभक्ति' 'करुणा' जैसे निबंधों में जगह जगह उनकी तन्मयता देखने ही योग्य है।

निबंध का गद्य रुचिर होता है। साधारण गद्य से इसका गद्य अधिक विशद और विदग्धतापूर्ण होता है। भाषा की शक्तियों का चमत्कार निबंध में अच्छी तरह देखने को मिलता है। व्यंजना, लक्षणा, व्यंग और विनोद इन सबकी छटा इसमें देखने को मिलती है। व्यंग और विनोद कहीं तो पूरी रचना में इधर उधर बिखरे छींटों के रूप में दिखाई देते हैं और कहीं संपूर्ण रचना का मिला जुला अंतिम प्रभाव व्यंगपूर्ण होता है।

लेखक के व्यक्तित्व की व्यंजना निबंध का सबसे आवश्यक गुण है। आधुनिक दृष्टि से निबंध में विषय का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि लेखक के व्यक्तित्व का। जब कि साहित्य का यही एक भेद ऐसा है जिसमें लेखक और पाठक का बहुत समीप का सीधा संपर्क स्थापित होता है तो स्वाभाविक ही है कि पाठक लेखक से अधिक से अधिक परिचय प्राप्त करना चाहे। पर परिबंध निबंध और निर्बंध निबंध के भीतर

व्यक्तित्व की व्यंजना के स्वरूप में पर्याप्त अंतर दिखाई देता है। पहले प्रकार के निबंध में व्यक्तित्व की व्यंजना का क्या अर्थ है इसका कुछ पता पहले उद्धृत शुक्लजी के वाक्यों द्वारा लग गया होगा। लेखक की अपनी दृष्टि, अपनी रुचि होती है। वह अपनी दृष्टि से संसार को देखता है। किसी विषय पर अपनी रुचि के अनुसार वह और सबसे अलग धारणा बनाता है। उसकी यह 'अपनी दृष्टि' 'अपनी रुचि' 'अपनी धारणा' उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालती है इनसे जीवन और जगत् के विषय में उसकी प्रवृत्ति तो मालूम ही होती है, रचना-विन्यास पर भी इनका प्रभाव पड़ता है जिससे लेखक की अपनी शैली निर्धारित होती है। कभी कभी विषयांतर के द्वारा लेखक थोड़ी स्वच्छंदता प्रदर्शित करते हुए अपनी व्यक्तिगत रुचि प्रदर्शित करता है। पर विषयांतर बराबर थोड़ा होता है और लेखक को अपने मूल विषय का ध्यान बना रहता है, वह शीघ्र ही थोड़ा घूमकर अपने विषय पर आ जाता है। विचारों की शृंखला और विषय-प्रतिपादन की सुव्यवस्था पर उसका ध्यान बना रहता है।

पर निबंध निबंध में व्यक्तित्व की व्यंजना का अर्थ कुछ और भी होता है। यों तो सभी रचनाओं के द्वारा लेखक का व्यक्तित्व अभिव्यक्त होता है क्योंकि उनका गठन बहुत कुछ लेखक की प्रतिभा और मानसिक अभ्यास पर निर्भर करता है, पर उसकी सहजवृत्ति-प्रेरित मानवीय प्रवृत्तियाँ अनेक कारणों से नियंत्रित हो जाती हैं और उनकी स्वच्छंद अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। लेखक का व्यक्तित्व तर्क, विवेक और अन्यान्य विधि-निषेधों द्वारा बाधित हो जाता है और रचना के विषय में पूर्वनिश्चित कतिपय स्थिर मानदंडों के अनुसार ढलकर वह सामने आता है। निबंध निबंध का लेखक पूर्वनिश्चित स्थिर मानदंडों को अस्वीकार कर अपने मानस की तरंगों में स्वच्छंद होकर विहार करता है और इसका प्रभाव सबसे अधिक निबंध के रचना-विधान पर पड़ता है। इस प्रकार के निबंध

की व्यक्तिगत शैली व्यवस्थित नहीं हो सकती। मन की लगाम ढीली कर देने पर वह आकाश पाताल एक कर देता है, मौज में आकर वह कब किधर बहक जायगा यह कहा नहीं जा सकता। उसकी कल्पना भी ऐसी स्थिति में स्पष्ट और ठोस होने पर भी बिखरी होती है। पहले से यह नहीं जाना जा सकता कि विषयांतर के द्वारा वह कहाँ कहाँ विचरण करेगा। एक बात से दूसरी बात इस तरह अनायास पर एकदम स्वभाविक ढंग से निकलती चली जाती है कि आगे चलकर कभी कभी सहसा यह जानना भी जरा मुश्किल हो जाता है कि आरंभ में लेखक चला कहाँ से था। इस तरह की बेतकल्लुफी के कारण पाठक लेखक से अधिक सामीप्य का बोध करता है। इसी दृष्टि से अँगरेज समीक्षकों ने ऐसे निबंध को 'मन की बहक' कहा है और इसकी रचना को अपूर्ण, अव्यवस्थित और अगठित। ये सभी बातें इस संग्रह की 'धोखा' 'अपूर्ण' 'क्या लिखूँ' जैसी रचनाओं में बहुत कुछ देखी जा सकती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा गया, इस तरह की व्यक्तित्व-प्रकाशक मनोदशा का प्रभाव रचना के संघटन पर पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। रचना का आरंभ और अंत कैसा हो, उसका गठन कैसा हो आदि के विषय में अन्य रचना-प्रकारों की भाँति कोई पूर्वनिश्चित नियम नहीं बनाए जा सकते; निबंध निबंध कहानीनुमा भी हो सकता है. जैसे 'आप क्या करते हैं?'। विचार-प्रधान निबंध की तरह वह तर्कपूर्ण भी मालूम हो सकता है, जैसे 'धोखा' या 'जबान'। वह बातचीत की तरह बिखरा हुआ भी हो सकता है जैसे 'अपूर्ण'। सबका मिला जुला रूप भी कहीं दिखाई दे सकता है जैसे 'क्या लिखूँ?' में।

निबंधों का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है, जैसे विषय की दृष्टि से सामाजिक, नैतिक आदि, अथवा वर्णनशैली की दृष्टि से कथात्मक (नैरेटिव) चिंतनात्मक (रिफ्लेक्टिव) तार्किक (आर्गूमेंटेटिव) व्याख्या-

त्मक (एक्सपोजिटरी) आदि पर कई दृष्टियों से प्रधान रूप से इनकी दो ही कोटियाँ निर्धारित करना विशेष संगत दिखाई देता है—निर्बंध निबंध और परिबंध निबंध।

रचना-प्रकार की दृष्टि से निर्बंध निबंध कई प्रकार के हो सकते हैं यह ऊपर बतलाया जा चुका। परिबंध निबंध के भी, शैली की दृष्टि से, अधिक भेदोपभेद के चक्कर में न पड़कर तीन वर्ग निश्चित कर लेना सुविधाजनक होगा—व्याख्यात्मक, वर्णनात्मक और भावात्मक।

व्याख्यात्मक परिबंध निबंध में किसी विषय का विवेचन, परीक्षण या आलोचना होती है। लेखक अधिकतर प्रायः व्यवस्थित ढंग से अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा अपने दृष्टिकोण की उपयुक्तता प्रतिपादित करता है। ऐसे निबंध की शैली परिमार्जित, सुबोध और स्पष्ट होती है। अपना अभिप्रेत अर्थ व्यक्त करने के लिए लेखक कभी कभी थोड़े विषयांतर में भी पाठक को ले जाकर अपने विचार मनवा लेना चाहता है। अर्थात् वह केवल बुद्धि-प्रेरित तर्कपूर्ण स्थापनाओं के द्वारा ही अपना मंतव्य प्रकाशित कर पाठक को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि थोड़ी बहुत आत्मीयता दिखलाकर उसके मर्म को भी स्पर्श करने का प्रयास करता है। सामान्य व्याख्यात्मक लेख और निबंध में यही अंतर है कि एक में तो लेखक तटस्थ भाव से बौद्धिक संगति बैठाकर अपनी स्थापनाएँ करता जाता है पर दूसरा पाठक की संवेदना-वृत्ति भी जगाकर उसे पूरी तरह अपने पक्ष में कर लेना चाहता है। पहले तरह की रचना मिश्रबंधु का 'वीर' है और दूसरे तरह की रचना है शुक्लजी का 'करुणा' नामक निबंध जिसमें बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष दोनों का योग देखा जा सकता है।

किसी घटना, वस्तु या व्यक्ति का वर्णन करनेवाला निबंध वर्णनात्मक कहा जाता है। शिवप्रसाद सितारेहिंद का 'राजा भोज का सपना',

अखौरी का 'इत्यादि की आत्मकहानी', कृष्णबलदेव वर्मा का 'बुंदेलखंड वर्णन' और महादेवी वर्मा का 'गुरुदक्षिणा' नामक निबंध – ये सब वर्णनात्मक हैं। कथात्मक निबंधों की अलग श्रेणी बनाने की आवश्यकता इसलिए नहीं प्रतीत होती कि शैली की दृष्टि से इसमें भी वर्णन ही रहता है। यद्यपि आदर्श वर्णन की गद्य-शैली पूरी तरह वस्तुनिष्ठ होती है और इसमें लेखक का व्यक्तित्व पूरी तरह अप्रकट रहता है पर निबंध में ऐसा होना संभव नहीं। उसमें लेखक का व्यक्तित्व, उसकी रुचि-अरुचि उसके मन पर पड़ा बाह्य दृश्य का प्रभाव— ये सब अंकित होते हैं। वह जिस दृश्य का वर्णन कर रहा है उसे पाठक के सामने प्रत्यक्ष कर देना चाहता है, उसका अनुभव कराना चाहता है और एक आत्मीय की भाँति उस दृश्य के अपने मन पर पड़े प्रभाव से भी अवगत कराना चाहता है। वर्णन संश्लिष्ट भी हो सकता है और असंश्लिष्ट भी। अर्थात् कहीं तो दृश्यांकन ऐसा ब्योरेवार और अनुक्रम से होता है कि एक पूरा मार्मिक चित्र सामने आ जाता है और कभी वह अपनी सीमा में सांगोपांग न होकर बिखरा हुआ होता है, एक अंश का विवरण यहाँ एक का वहाँ।

ऊपर उदाहरण स्वरूप जिन निबंधों के नाम दिए गए हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं जो साधारणतः कथा की भाँति प्रतीत होते हैं, जैसे 'राजा भोज का सपना'। पर यह रचना वास्तव में निबंध ही है। सबसे पहली बात तो यह कि कहानी की तरह इसका उद्देश्य जीवन का कोई मार्मिक तथ्य उद्घाटित करना नहीं वरन् उपदेश देना है और यह बात बहुत ही स्पष्ट है। दूसरी बात यह कि कहानी की तरह इसकी घटनाएँ किसी परिणाम की ओर नहीं उन्मुख हैं बल्कि किसी उद्देश्य का प्रतिपादन करने के लिए उदाहरण या प्रमाण रूप में चित्रित की गई हैं। घटनाओं में गतिशीलता भी वैसी नहीं दिखाई देती, जैसी कहानी के लिए चाहिए।

तीसरे प्रकार के निबंध भावात्मक कहलाते हैं जिनका उद्देश्य होता

है पाठक के हृदय में विभिन्न प्रकार के भाव उद्दीप्त करना। इस तरह के उच्च कोटि के निबंधों में भाषा की सांकेतिक अर्थव्यक्ति का पूर्ण चमत्कार देखने को मिलता है। मर्मस्पर्शिता, सजीवता, ओजस्विता और भाव के अनुसार भाषा की गति का चढ़ाव-उतार—इन सबके द्वारा लेखक पाठक के मन पर पूरा पूरा प्रभाव डालता है। ऐसे निबंध में भाव की सचाई और लेखक की तन्मयता जितनी ही अधिक होती है रचना उतनी ही अधिक प्रभावशाली बन पड़ती है। भावव्यंजना कहीं तो वस्तुपरक होती है और कहीं आत्मानुभूतिपरक। अर्थात् कहीं तो बाह्य विषयों के साथ ही उनके प्रति अपने भावोद्गार व्यक्त किए जाते हैं और कहीं बाह्य विषय सामने नहीं रहता या बहुत कम रहता है। भाव-संगठन की दृष्टि से देखने पर कुछ निबंधों में तो भाव की धारा यहाँ से वहाँ तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होती है जैसे पूर्णसिंह या चतुरसेन शास्त्री की इस प्रकार की रचनाओं में। कुछ भावात्मक निबंधों की भावधारा विच्छिन्न होती है। इनमें कहीं भावावेश में आकर शैली प्रवेगपूर्ण और असंबद्ध हो जाती है और कहीं भावाकुलता कम होने पर शैली अपेक्षाकृत शिथिल पड़ जाती है। भावधारा रुकती बढ़ती चलती है, समानरूप से प्रवहमान नहीं होती। इस तरह के निबंध रघुबीरसिंह की 'शेष स्मृतियाँ' नामक निबंध-संग्रह में देखने को मिलते हैं। इस संग्रह का 'बुढ़ापा' भी इसी तरह की रचना है। इनमें से पहले प्रकार के निबंध धाराशैली के और दूसरे प्रकार के तरंगशैली के कहे जाते हैं।

अंत में यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस तरह का वर्गीकरण सुविधा की दृष्टि से ही किया गया समझना चाहिए। भावात्मक निबंध में बहुत अच्छे वर्णनात्मक स्थल भी मिल सकते हैं जैसे पूर्णसिंह के निबंधों में और व्याख्यात्मक निबंधों में भावमय स्थल भी मिलते हैं

जैसे रामचंद्र शुक्ल के निबंधों में। पर लेखक का उद्देश्य क्या है, किसी वस्तु को चित्रित करना, किसी विषय का विवेचन करना या भाव-संचार करना, यह देखना चाहिए और तब निबंध की शैली निर्धारित करने में कोई कठिनाई न होगी।

अनुक्रम

हिंदी-निबंध

शिवप्रसाद 'सितारे हिंद'

राजा भोज का सपना

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने एक कल्पित स्वप्न के सहारे मनुष्य के मन की उन छिपी हुई पाप-भावनाओं का उद्‌घाटन किया है जिन्हें वह स्वयं भी नहीं देख पाता। इसमें संदेह नहीं कि यदि मनुष्य अपने दोषों को देख सके तो अपने प्रति उसकी यही भावना होगी कि 'मुझसे बुरा न कोय'। सत्य ने राजा भोज के सामने उसके दान, न्याय, तप और संध्या-वंदन के मूल में छिपी उसकी कीर्ति-लिप्सा, स्वार्थ, अहंकार तथा बाह्याडंबर को अनावृत कर दिया। उसके द्वारा कहे गए दुर्वचन, झूठ तथा व्यंग भी उसके सामने दाग और गड्ढों के रूप में प्रत्यक्ष हो उठे। उसकी काम, क्रोध, मद, मोह आदि वासनाएँ साँप और बिच्छुओं के रूप में प्रकट होकर

उसे व्यथित करने लगीं। अपने पापों के इस भयंकर प्रदर्शन से घबराकर वह जागा तो उसे जीवन के सच्चे मार्ग को जानने की इच्छा हुई। पर यह सच्ची राह तो सच्चे जी से प्रार्थना करने पर एक दीनबंधु भगवान् ही दिखा सकता है, दूसरा कोई नहीं।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद हिंदी-गद्य के आरंभिक लेखक हैं। उनके इस निबंध की भाषा बोलचाल की भाषा के अत्यंत निकट है। वाक्यों में अंत्यानुप्रास की योजना की ओर उनका विशेष आकर्षण है। कहीं-कहीं पंडिताऊपन की झलक भी दिखाई देती है। लेखक के आमफहम भाषा के नाम पर शुद्ध उर्दू लिखने लगने से पहले ही इस निबंध की रचना हो चुकी थी। निबंध में यद्यपि उपदेश की भावना का प्राधान्य है, पर उसकी कथात्मक रोचकता के कारण वह काव्य के 'कांता-संमित उपदेश' के ही अधिक निकट है।

राजा भोज का सपना

वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी राजा महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्ति तो सारे जगत् में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने, चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता। जो सत्तू माँगने आता उसे मोतीचूर मिलता और जो गजी चाहता उसे मलमल दी जाती। पैसे की जगह लोगों को अशर्फियाँ बाँटता और मेह की तरह भिखारियों पर मोती बरसाता। एक एक श्लोक के लिये ब्राह्मणों को लाख लाख रुपया उठा देता और सवा लक्ष ब्राह्मणों को षट्रस भोजन कराके तब आप खाने बैठता। तीर्थयात्रा, स्नान, दान और व्रत-उपवास में सदा तत्पर रहता। उसने बड़े बड़े चांद्रायण किए थे और बड़े बड़े जंगल पहाड़ छान डाले थे।

व्रत जिसमें चन्द्र को देख कर खाना खाया जाता है।

शिवप्रसाद 'सितारे हिंद'

एक दिन शरद् ऋतु में संध्या के समय सुंदर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर, जिसमें कुमुद और कमलों के बीच जल-पक्षी कलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे स्वस्थ चित्त बैठा हुआ वह महलों की—सुनहरी कलसियाँ लगी हुई—संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय होता हुआ पूर्णिमा का चंद्रमा देख रहा था और निर्जन एकांत होने के कारण मन ही मन में सोचता था कि अहो ! मैंने अपने कुल को ऐसा प्रकाश किया जैसे सूर्य से इन कमलों का विकास होता है। क्या मनुष्य और क्या जीव-जंतु मैंने अपना सारा जन्म इन्हीं का भला करने में गँवाया और व्रत-उपवास करते करते फूल से शरीर को काँटा बनाया। जितना मैंने दान किया उतना तो कभी किसी के ध्यान में भी न आया होगा। जो मैं ही नहीं तो फिर और कौन हो सकता है ? मुझे अपने ईश्वर पर दावा है, वह अवश्य मुझे अच्छी गति देगा। ऐसा कब हो सकता है कि मुझे कुछ दोष लगे ?

इसी अर्से में चोबदार ने पुकारा—"चौधरी इंद्रदत्त निगाह रूबरू !" श्रीमहाराज सलामत। भोज ने आँख उठाई, दीवान ने साष्टांग दंडवत की, फिर संमुख जा हाथ जोड़ यों निवेदन किया—"पृथ्वीनाथ, सड़क पर वे कुएँ जिनके वास्ते आपने हुक्म दिया था, बनकर तैयार हो गए हैं और आम के बाग भी सब जगह लग गए। जो पानी पीता है आपको असीस देता है और जो उन पेड़ों की छाया में विश्राम करता आपकी बढ़ती दौलत मनाता है।" राजा अति प्रसन्न हुआ और बोला कि "सुन, मेरी अमलदारी भर में जहाँ जहाँ सड़कें हैं कोस कोस पर कुएँ खोदवा के सदाव्रत बैठा दे और दुतरफा पेड़ भी जल्द

लगवा दे।" इसी अर्से में दानाध्यक्ष ने आकर आशीर्वाद दिया और निवेदन किया—"धर्मावतार! वह जो पाँच हजार ब्राह्मण हर साल जाड़े में रजाई पाते हैं सो डेवढ़ी पर हाजिर हैं।" राजा ने कहा—"अब पाँच के बदले पचास हजार को मिला करे और रजाई की जगह शाल दुशाले दिए जावें।" दानाध्यक्ष दुशालों के लाने वास्ते तोशेखाने में गया। इमारत के दारोगा ने आकर मुजरा किया और खबर दी कि "महाराज! उस बड़े मंदिर की जिसके जल्द बना देने के वास्ते सरकार से हुक्म हुआ है आज नींव खुद गई, पत्थर गढ़े जाते हैं और लुहार लोहा भी तैयार कर रहे हैं।" महाराज ने तिउरियाँ बदलकर उस दारोगा को खूब घुड़का "अरे मूर्ख, वहाँ पत्थर और लोहे का क्या काम है? बिलकुल मंदिर संगमर्मर और संगमूसा से बनाया जावे और लोहे के बदले उसमें सब जगह सोना काम में आवे जिसमें भगवान् भी उसे देखकर प्रसन्न हो जावें और मेरा नाम इस संसार में अतुल कीर्ति पावे।"

यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि "धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया, मानों धर्म का उद्धार करने को इस जगत् में अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले ही से आपको साक्षात् धर्मराज विचारा है।" व्यासजी ने कथा आरंभ की, भजन-कीर्तन होने लगा। चाँद सिर पर चढ़ आया। घड़ियाली ने निवेदन किया कि "महाराज! आधी रात के निकट है।" राजा की आँखों में नींद आ रही थी; व्यास कथा

कहते थे पर राजा को ऊँघ आती थी। वह उठकर रनवास में गया।

जड़ाऊ पलँग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दाबने लगीं। राजा की आँख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह बड़ा संगमर्मर का मंदिर बनकर बिलकुल तैयार हो गया, जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफाई में हाथीदाँत को भी मात कर दिया है, जहाँ कहीं पच्चीकारी का हुनर दिखलाया है वहाँ जवाहिरों को पत्थरों में जड़कर तसवीर का नमूना बना दिया है। कहीं लालों के गुलालों पर नीलम की बुलबुलें बैठी हैं और ओस की जगह हीरों के लोलक लटकाए हैं, कहीं पुखराजों की डंडियों से पन्ने के पत्ते निकालकर मोतियों के भुट्टे लगाए हैं। सोने की चोबों पर शामियाने और उनके नीचे बिल्लौर के हौजों में गुलाब और केवड़े के फुहारे छूट रहे हैं। मनों धूप जल रहा है, सैकड़ों कपूर के दीपक बल रहे हैं। राजा देखते ही मारे घमंड के फूल कर मशक बन गया। कभी नीचे कभी ऊपर, कभी दाहने कभी बाएँ निगाह करता और मन में सोचता कि अब इतने पर भी मुझे क्या कोई स्वर्ग में घुसने से रोकेगा या पवित्र पुण्यात्मा न कहेगा? मुझे अपने कर्मों का भरोसा है; दूसरे किसी से क्या काम पड़ेगा।

इसी अर्से में वह राजा उस सपने के मंदिर में खड़ा खड़ा क्या देखता है कि एक ज्योति सी उसके सामने आसमान से उतरी चली आती है। उसका प्रकाश तो हजारों सूर्य से भी अधिक है, परंतु जैसे सूर्य को बादल घेर लेता है उस प्रकार

उसने मुँह पर घूँघट सा डाल लिया है, नहीं तो राजा की आँखें कब उस पर ठहर सकती थीं; इस घूँघट पर भी वे मारे चकाचौंध के झपकी चली जाती थीं। राजा उसे देखते ही काँप उठा और लड़खड़ाती सी जबान से बोला कि हे महाराज! आप कौन हैं और मेरे पास किस प्रयोजन से आए हैं? उस पुरुष ने बादल की गरज के समान गंभीर उत्तर दिया कि मैं सत्य हूँ, अंधों की आँखें खोलता हूँ, मैं उनके आगे से धोखे की टट्टी हटाता हूँ, मैं मृगतृष्णा के भटके हुओं का भ्रम मिटाता हूँ और सपने के भूले हुओं को नींद से जगाता हूँ। हे भोज! अगर कुछ हिम्मत रखता है तो आ, हमारे साथ आ और हमारे तेज के प्रभाव से मनुष्यों के मन के मंदिरों का भेद ले, इस समय हम तेरे ही मन को जाँच रहे हैं। राजा के जी पर एक अजब दहशत सी छा गई। नीची निगाह करके वह गर्दन खुजलाने लगा। सत्य बोला—भोज! तू डरता है, तुझे अपने मन का हाल जानने में भी भय लगता है? भोज ने कहा—नहीं, इस बात से तो नहीं डरता क्योंकि जिसने अपने तईं नहीं जाना उसने फिर क्या जाना? सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी या तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ। सत्य बोला, "ठीक, पर भोज, यह तो बतला कि तू ईश्वर की निगाह में क्या है? क्या हवा में बिना धूप त्रसरेणु कभी दिखलाई देते

हैं ? पर सूर्य की किरण पड़ते ही कैसे अनगिनत चमकने लग जाते हैं ? क्या कपड़े से छाने हुए मैले पानी में किसी को कीड़े मालूम पड़ते हैं ? पर जब खुर्दबीन शीशे को लगाकर देखो तो एक एक बूँद में हजारों ही जीव सूझने लग जाते हैं। जो तू उस बात के जानने से जिसे अवश्य जानना चाहिए डरता नहीं तो आ मेरे साथ आ, मैं तेरी आँखें खोलूँगा।"

निदान सत्य यह कह राजा को उस बड़े मंदिर के ऊँचे दर्वाजे पर चढ़ा ले गया जहाँ से सारा बाग दिखलाई देता था और फिर वह उससे यों कहने लगा कि भोज, मैं अभी तेरे पापकर्मों की कुछ भी चर्चा नहीं करता, क्योंकि तूने अपने तई निरा निष्पाप समझ रखा है, पर यह तो बतला कि तूने पुण्यकर्म कौन कौन से किए हैं कि जिनसे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर संतुष्ट होगा। राजा यह सुनके अत्यंत प्रसन्न हुआ। यह तो मानों उसके मन की बात थी। पुण्यकर्म के नाम ने उसके चित्त को कमल सा खिला दिया। उसे निश्चय था कि पाप तो मैंने चाहे किया हो चाहे न किया हो, पर पुण्य मैंने इतना किया है कि भारी से भारी पाप उसके पासंग में न ठहरेगा। राजा को वहाँ उस समय सपने में तीन पेड़ बड़े ऊँचे अपनी आँख के सामने दिखाई दिए। फलों से वे इतने लदे हुए थे कि मारे बोझ के उनकी टहनियाँ धरती तक झुक गई थीं। राजा उन्हें देखते ही हरा हो गया और बोला कि सत्य, यह ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया अर्थात् ईश्वर और मनुष्य दोनों की प्रीति के पेड़ हैं, देख फलों के बोझ से ये धरती पर नए हैं। ये तीनों मेरे ही लगाए हैं। पहले में तो वे

सब लाल लाल फल मेरे दान से लगे हैं और दूसरे में वे पीले पीले मेरे न्याय से और तीसरे में ये सब सफेद फल मेरे तप का प्रभाव दिखाते हैं। मानों उस समय यह ध्वनि चारों ओर से राजा के कानों में चली आती थी कि धन्य हो! आज तुम सा पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं, तुम साक्षात् धर्म के अवतार हो, इस लोक में भी तुमने बड़ा पद पाया है और उस लोक में भी इससे अधिक मिलेगा; तुम मनुष्य और ईश्वर दोनों की आँखों में निर्दोष और निष्पाप हो। सूर्य के मंडल में लोग कलंक बतलाते हैं पर तुम पर एक छींटा भी नहीं लगाते।

सत्य बोला कि "भोज, जब मैं इन पेड़ों के पास था जिन्हें तू ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया के बतलाता है तब तो इनमें फल-फूल कुछ भी नहीं थे, ये निरे ठूँठ से खड़े थे। ये लाल, पीले और सफेद फल कहाँ से आ गए? ये सचमुच उन पेड़ों में फल लगे हैं या तुझे फुसलाने और वश में करने को किसी ने उनकी टहनियों से लटका दिए हैं? चल, उन पेड़ों के पास चलकर देखें तो सही। मेरी समझ में तो ये लाल लाल फल जिन्हें तू अपने दान के प्रभाव से लगे बतलाता है, यश और कीर्ति फैलाने की चाह अर्थात् प्रशंसा पाने की इच्छा ने इस पेड़ में लगाए हैं।" निदान ज्योंही सत्य ने उस पेड़ के छूने को हाथ बढ़ाया, राजा सपने में क्या देखता है कि वे सारे फल जैसे आसमान से ओले गिरते हैं एक आन की आन में धरती पर गिर पड़े। धरती सारी लाल हो गई; पेड़ों पर सिवाय पत्तों के और कुछ न रहा। सत्य ने कहा कि "राजा, जैसे कोई किसी चीज को मोम से चिपकाता है उसी तरह तूने अपने

भुलाने को प्रशंसा की इच्छा से ये फल इस पेड़ पर लगा लिए थे। सत्य के तेज से यह मोम गल गया, पेड़ ठूँठ का ठूँठ रह गया। जो तूने दिया और किया सब दुनिया के दिखलाने और मनुष्यों से प्रशंसा पाने के लिये, केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से तो कुछ भी नहीं दिया। यदि कुछ दिया हो या किया हो तो तू ही क्यों नहीं बतलाता। मूर्ख, इसी के भरोसे पर तू फूला हुआ स्वर्ग में जाने को तैयार हुआ था।"

भोज ने एक ठंडी साँस ली। उसने तो औरों को भूला समझा था पर वह सबसे अधिक भूला हुआ निकला। सत्य ने उस पेड़ की तरफ हाथ बढ़ाया जो सोने की तरह चमकते हुए पीले पीले फलों से लदा हुआ था। सत्य बोला—"राजा ये फल तूने अपने भुलाने को, स्वर्ग की स्वार्थसिद्धि करने की इच्छा से लगा लिए थे। कहनेवाले ने ठीक कहा है कि मनुष्य मनुष्य के कर्मों से उसके मन की भावना का विचार करता है और ईश्वर मनुष्य के मन की भावना के अनुसार उसके कर्मों का हिसाब लेता है। तू अच्छी तरह जानता है कि यही न्याय तेरे राज्य की जड़ है। जो न्याय न करे तो फिर यह राज्य तेरे हाथ में क्योंकर रह सके। जिस राज्य में न्याय नहीं वह तो बेनींव का घर है, बुढ़िया के दाँतों की तरह हिलता है, अब गिरा तब गिरा। मूर्ख, तू ही क्यों नहीं बतलाता कि यह तेरा न्याय स्वार्थ सिद्ध करने और सांसारिक सुख पाने की इच्छा से है अथवा ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से?"

भोज की पेशानी पर पसीना हो आया, उसने आँखें नीची कर लीं, उससे जवाब कुछ न बन पड़ा। तीसरे पेड़ की बारी

आई। सत्य का हाथ लगते ही उसकी भी वही हालत हुई। राजा अत्यंत लज्जित हुआ। सत्य ने कहा कि "मूर्ख! ये तेरे तप के फल कदापि नहीं, इनको तो इस पेड़ पर तेरे अहंकार ने लगा रखा था। वह कौन सा व्रत व तीर्थयात्रा है जो तूने निरहंकार केवल ईश्वर की भक्ति और जीवों की दया से की हो? तूने यह तप केवल इसी वास्ते किया कि जिसमें तू अपने तईं औरों से अच्छा और बढ़कर बिचारे। ऐसे ही तप पर गोबरगनेस, तू स्वर्ग मिलने की उम्मेद रखता है? पर यह तो बतला कि मंदिर के उन मुँडेरों पर वे जानवर से क्या दिखलाई देते हैं; कैसे सुंदर और प्यारे मालूम होते हैं। पर तो उनके पन्ने के हैं और गर्दन फिरोजे की, दुम में सारे किस्म के जवाहिरात जड़ दिए हैं।" राजा के जी में घमंड की चिड़िया ने फिर फुरफुरी ली, मानों बुझते हुए दीये की तरह वह जगमगा उठा। जल्दी से उसने जवाब दिया कि "हे सत्य, यह जो कुछ तू मंदिर की मुँडेरों पर देखता है मेरे संध्यावंदन का प्रभाव है। मैंने जो रातों जाग जाग कर और माथा रगड़ते रगड़ते इस मंदिर की देहली को घिसकर ईश्वर की स्तुति-वंदना और विनती-प्रार्थना की है वे ही अब चिड़ियों की तरह पंख फैलाकर आकाश को जाती हैं, मानों ईश्वर के सामने पहुँचकर अब मुझे स्वर्ग का राजा बनाती हैं।" सत्य ने कहा कि राजा, दीनबंधु करुणासागर श्रीजगन्नाथ जगदीश्वर अपने भक्तों की विनती सदा सुनता रहता है और जो मनुष्य शुद्ध हृदय और निष्कपट होकर नम्रता और श्रद्धा के साथ अपने दुष्कर्मों का पश्चात्ताप अथवा उनके क्षमा होने का टुक भी निवेदन करता है वह उसका निवेदन उसी दम सूर्य चाँद को बेधकर

पार हो जाता है, फिर क्या कारण कि ये सब अब तक मंदिर के मुँडेरे पर बैठे रहे ? आ चल, देखें तो सही हम लोगों के पास जाने पर आकाश को उड़ जाते हैं या उसी जगह पर परकटे कबूतरों की तरह फड़फड़ाया करते हैं ?

भोज डरा लेकिन उसने सत्य का साथ न छोड़ा। जब वह मुँडेरे पर पहुँचा तो क्या देखता है कि वे सारे जानवर जो दूर से ऐसे सुंदर दिखलाई देते थे मरे हुए पड़े हैं; पंख नुचे खुचे और बहुतेरे बिलकुल सड़े हुए, यहाँ तक कि मारे बदबू के राजा का सिर भिन्ना उठा। दो एक ने, जिनमें कुछ दम बाकी था, जो उड़ने का इरादा भी किया तो उनका पंख पारे की तरह भारी हो गया और उसने उन्हें उसी ठौर दबा रखा। वे तड़पा जरूर किए, पर उड़ जरा भी न सके। सत्य बोला—"भोज, बस यही तेरे पुण्यकर्म हैं, इसी स्तुति-वंदना और विनती-प्रार्थना के भरोसे पर तू स्वर्ग में जाया चाहता है। सूरत तो इनकी बहुत अच्छी है पर जान बिलकुल नहीं। तूने जो कुछ किया केवल लोगों के दिखलाने को, जी से कुछ भी नहीं। जो तूने एक बार भी जी से पुकारा होता कि 'दीनबंधु दीना-नाथ दीनहितकारी ! मुझ पापी महा अपराधी डूबते हुए को बचा और कृपादृष्टि कर' तो वह तेरी पुकार तीर की तरह तारों से पार पहुँची होती।" राजा ने सिर नीचा कर लिया, उससे उत्तर कुछ न बन आया। सत्य ने कहा कि "भोज ! अब आ, फिर इस मंदिर के अंदर चलें और वहाँ तेरे मन के मंदिर को जाँचें। यद्यपि मनुष्य के मन के मंदिर में ऐसे ऐसे अँधेरे तहखाने और तङ्गघरे पड़े हुए हैं कि उनको सिवाय

सर्वदर्शी घट-घट-अंतर्यामी सकल-जगत्स्वामी के और कोई भी नहीं देख अथवा जाँच सकता, तो भी तेरा परिश्रम व्यर्थ न जायगा।

राजा सत्य के पीछे खिंचा खिंचा फिर मंदिर के अंदर घुसा, पर अब तो उसका हाल ही कुछ से कुछ हो गया। सचमुच सपने का खेल सा दिखलाई दिया। चाँदी की सारी चमक जाती रही, सोने की बिलकुल दमक उड़ गई, सोने में लोहे की तरह मोर्चा लगा हुआ, जहाँ जहाँ से मुलम्मा उड़ गया था, भीतर का ईंट-पत्थर कैसा बुरा दिखलाई देता था। जवाहिरों की जगह केवल काले काले दाग रह गए थे, और संगमर्मर की चट्टानों में हाथ हाथ भर गहरे गढ़े पड़ गए थे। राजा यह देखकर भौचक्का सा रह गया, औसान जाते रहे, हक्काबक्का बन गया। उसने धीमी आवाज से पूछा कि ये टिड्डीदल की तरह इतने दाग इस मंदिर में कहाँ से आए? जिधर मैं निगाह उठाता हूँ सिवाय काले काले दागों के और कुछ भी नहीं दिखलाई देता। ऐसा तो छीपी छींट भी नहीं छापेगा और न शीतला से बिगड़ा किसी का चेहरा ही देख पड़ेगा। सत्य बोला कि "राजा, ये दाग जो तुझे इस मंदिर में दिखलाई देते हैं दुर्वचन हैं जो दिन-रात तेरे मुख से निकला किए हैं। याद तो कर, तूने क्रोध में आकर कैसी कड़ी कड़ी बातें लोगों को सुनाई हैं। क्या खेल में और क्या अपना अथवा दूसरे का चित्त प्रसन्न करने को, क्या रुपया बचाने अथवा अधिक लाभ पाने को और दूसरे का देश अपने हाथ में लाने अथवा किसी बराबर वाले से अपना मतलब निकालने और दुश्मनों को नीचा दिखलाने को तैने कितना झूठ बोला है। अपने

ऐब छिपाने और दूसरे की आँखों में अच्छा मालूम होने अथवा झूठी तारीफ पाने के लिये तैने कैसी कैसी शेखियाँ हाँकी हैं और अपने को औरों से अच्छा और औरों को अपने से बुरा दिखलाने को कहाँ तक बातें बनाई हैं सो क्या अब कुछ भी याद न रहा, बिलकुल एकबारगी भूल गया ? पर वहाँ तो वे तेरे मुँह से निकलते ही बही में दर्ज हुईं। तू इन दागों के गिनने में असमर्थ है पर उस घट-घट- निवासी अनंत अविनाशी को एक एक बात जो तेरे मुँह से निकली है याद है और याद रहेगी। उसके निकट भूत और भविष्य वर्तमान सा है।"

भोज ने सिर न उठाया पर उसी दबी जबान से इतना मुँह से और निकाला कि दाग तो दाग, पर ये हाथ हाथ भर के गढ़े क्योंकर पड़ गए, सोने चाँदी में मोर्चा लगकर ये ईंट-पत्थर कहाँ से दिखलाई देने लगे ? सत्य ने कहा कि "राजा, क्या तूने कभी किसी को कोई लगती हुई बात नहीं कही अथवा बोली ठोली नहीं मारी ? अरे नादान, यह बोली ठोली तो गोली से अधिक काम कर जाती है, तू तो इन गढ़ों ही को देखकर रोता है पर तेरे ताने तो बहुतों की छातियों से पार हो गए। जब अहंकार का मोर्चा लगा तो फिर यह देखलावे का मुलम्मा कब तक ठहर सकता है ? स्वार्थ और अश्रद्धा का ईंट-पत्थर प्रकट हो गया।" राजा को इस अर्से में चिमगादड़ों ने बहुत तंग कर रखा था। मारे बू के सिर फटा जाता था। भुनगों और पतंगों से सारा मकान भर गया था, बीच बीच में पंखवाले साँप और बिच्छू भी दिखलाई

देते थे। राजा घबराकर चिल्ला उठा कि यह मैं किस आफत में पड़ा, इन कमबख्तों को यहाँ किसने आने दिया? सत्य बोला, "राजा, सिवाय तेरे इनको और कौन आने देगा? तू ही तो इन सबको लाया। ये सब तेरे मन की बुरी वासनाएँ हैं। तूने समझा था कि जैसे समुद्र में लहरें उठा और मिटा करती हैं उसी तरह मनुष्य के मन में भी संकल्प की मौजें उठकर मिट जाती हैं। पर रे मूढ़! याद रख, कि आदमी के चित्त में ऐसा सोच-विचार कोई नहीं आता जो जगकर्ता प्राणदाता परमेश्वर के सामने प्रत्यक्ष नहीं हो जाता। ये चिमगादड़ और भुनगे और साँप-बिच्छू और कीड़े-मकोड़े जो तुझे दिखलाई देते हैं वे सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अभिमान, मद, ईर्षा के संकल्प-विकल्प हैं जो दिन-रात तेरे अंतःकरण में उठा किए और इन्हीं चिमगादड़ और भुनगों और साँप-बिच्छू और कीड़े-मकोड़ों की तरह तेरे हृदय के आकाश में उड़ते रहे। क्या कभी तेरे जी में किसी राजा की ओर से कुछ द्वेष नहीं रहा या उसके मुल्क माल पर लोभ नहीं आया या अपनी बड़ाई का अभिमान नहीं हुआ या दूसरे की सुंदर स्त्री देखकर उस पर दिल न चला?"

राजा ने एक बड़ी लंबी ठंडी साँस ली और अत्यंत निराश होके यह बात कही कि इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा हृदय शुद्ध और मन में कुछ भी पाप नहीं। इस संसार में निष्पाप रहना बड़ा ही कठिन है। जो पुण्य करना चाहते हैं उनमें भी पाप निकल आता है। इस संसार में पाप से रहित कोई भी नहीं, ईश्वर के सामने पवित्र पुण्यात्मा कोई भी नहीं। सारा मंदिर वरन् सारी धरती,

आकाश गूँज उठा "कोई भी नहीं, कोई भी नहीं!" सत्य ने जो आँख उठाकर उस मंदिर की एक दीवार की ओर देखा तो उसी दम संगमर्मर से आईना बन गया। उसने राजा से कहा कि अब टुक (थोड़ा) इस आईने का भी तमाशा देख और जो कर्तव्य कर्मों के न करने से तुझे पाप लगे हैं उनका भी हिसाब ले। राजा उस आईने में क्या देखता है कि जिस प्रकार बरसात की बढ़ी हुई किसी नदी में जल के प्रवाह बहे जाते हैं उसी प्रकार अनगिनत सूरतें एक ओर से निकलती और दूसरी ओर अलोप होती चली जाती हैं। कभी तो राजा को वे सब भूखे और नंगे इस आईने में दिखलाई देते जिन्हें राजा खाने पहनने को दे सकता था पर न देकर दान का रुपया उन्हीं हट्टे कट्टे मोटे मुशंड खाते पीतों को देता रहा, जो उसकी खुशामद करते थे या किसी की सिफारिश ले आते थे या उसके कारदारों को घूस देकर मिला लेते थे या सवारी के समय माँगते माँगते और शोर गुल मचाते मचाते उसे तंग कर डालते थे या दर्बार में आकर उसे लज्जा के भँवर में गिरा देते थे या झूठा छापा तिलक लगाकर उसे मक्र (मगर) के जाल में फँसा लेते थे या जन्मपत्र के भले बुरे ग्रह बतला कर कुछ धमकी भी दिखला देते थे या सुंदर कवित्त और श्लोक पढ़कर उसके चित्त को लुभाते थे। कभी वे दीन दुखी दिखलाई देते जिन पर राजा के कारदार जुल्म किया करते थे और उसने कुछ भी उसकी तहकीकात और उपाय न किया। कभी उन बीमारों को देखता जिनका चंगा करा देना राजा के अख्तियार में था, कभी वे व्यथा के जले और विपत्ति के मारे दिखलाई देते जिनका जी राजा के

दो बात कहने से ठंढा और संतुष्ट हो सकता था। कभी अपने लड़के, लड़कियों को देखता था जिन्हें वह पढ़ा लिखाकर अच्छी-अच्छी बातें सिखाकर बड़े-बड़े पापों से बचा सकता था। कभी उन गाँव और इलाकों को देखता जिनमें कुएँ तालाब और किसानों को मदद देने और उन्हें खेती बारी की नई-नई तर्कीबें बतलाने से हजारों गरीबों का भला कर सकता था। कभी उन टूटे हुए पुल और रास्तों को देखता जिन्हें दुरुस्त करने से वह लाखों मुसाफिरों को आराम पहुँचा सकता था।

राजा से अधिक देखा न जा सका, थोड़ी देर में घबराकर हाथों से उसने अपनी आँखें ढाँप लीं। वह अपने घमंड में उन सब कामों को तो सदा याद रखता था और उनकी चर्चा किया करता जिन्हें वह अपनी समझ में पुण्य के निमित्त किए हुए समझता था, पर उसने उन कर्तव्य कामों का कभी टुक सोच न किया जिन्हें अपनी उन्मत्तता से अचेत होकर छोड़ दिया था। सत्य बोला—"राजा अभी से क्यों घबरा गया ? आ इधर आ, इस दूसरे आईने में तुझे अब उन पापों को दिखलाता हूँ जो तूने अपनी उमर में किए हैं।" राजा ने हाथ जोड़ा और पुकारा कि बस महाराज, बस कीजिए, जो कुछ देखा उसी में मैं तो मिट्टी हो गया, कुछ भी बाकी न रहा; अब आगे क्षमा कीजिए। पर यह बतलाइए कि आपने यहाँ आकर मेरे शर्बत में क्यों जहर घोला और पकी पकाई खीर में साँप का विष उगला और मेरे आनंद को इस मंदिर में आकर नाश में मिलाया जिसे मैंने सर्वशक्तिमान् भगवान् के अर्पण किया है ? चाहे जैसा यह बुरा और अशुद्ध क्यों न हो पर मैंने तो

उसी के निमित्त बनाया है। सत्य ने कहा—"ठीक, पर यह तो बतला कि भगवान् इस मंदिर में बैठा है? यदि तूने भगवान् को इस मंदिर में बिठाया होता तो फिर वह अशुद्ध क्यों रहता? जरा आँख उठाकर उस मूर्ति को तो देख जिसे तू जन्म भर पूजता रहा है।"

राजा ने जो आँख उठाई तो क्या देखता है कि वहाँ उस बड़ी ऊँची वेदी पर उसी की मूर्ति पत्थर की गढ़ी हुई रखी है और अभिमान की पगड़ी बाँधे हुए है। सत्य ने कहा कि "मूर्ख, तूने जो काम किए केवल अपनी प्रतिष्ठा के लिये। इसी प्रतिष्ठा के प्राप्त होने की तेरी भावना रही है और इसी प्रतिष्ठा के लिये तूने अपनी आप पूजा की। रे मूर्ख, सकल जगत्स्वामी घट-घट-अंतर्यामी, क्या ऐसे मनरूपी मंदिरों में भी अपना सिंहासन बिछने देता है, जो अभिमान और प्रतिष्ठा-प्राप्ति की इच्छा इत्यादि से भरा है? यह तो उसकी बिजली पड़ने के योग्य है।" सत्य का इतना कहना था कि सारी पृथिवी एकबारगी काँप उठी, मानों उसी दम टुकड़ा-टुकड़ा हुआ चाहती थी, आकाश में ऐसा शब्द हुआ कि जैसे प्रलयकाल का मेघ गरजा। मंदिर की दीवारें चारों ओर से भड़भड़ाकर गिर पड़ीं, मानों उस पापी राजा को दबा ही लेना चाहती थीं। उस अहंकार की मूर्ति पर एक ऐसी बिजली गिरी कि वह धरती पर औंधे मुँह आ पड़ी। 'त्राहि माम्, त्राहि माम्, मैं डूबा,' कहके भोज जो चिल्लाया तो आँख उसकी खुल गई और सपना सपना हो गया।

इस अर्से में रात बीतकर आसमान के किनारों पर लाली दौड़ आई थी, चिड़ियाँ चहचहा रही थीं, एक ओर से शीतल

मंद सुगंध पवन चली आती थी, दूसरी ओर से बीन और मृदंग की ध्वनि। बंदीजन राजा का यश गाने लगे, हर्कारे हर तरफ काम को दौड़े, कमल खिले, कुमुद कुम्हलाए। राजा पलँग से उठा पर जी भारी, माथा थामे हुए, न हवा अच्छी लगती थी, न गाने बजाने की कुछ सुधबुध थी। उठते ही पहले उसने यह हुक्म दिया कि "इस नगर में जो अच्छे से अच्छे पंडित हों जल्द उनको मेरे पास लाओ। मैंने एक सपना देखा है कि जिसके आगे अब यह सारा खटराग सपना मालूम होता है। उस सपने के स्मरण ही से मेरे रोंगटे खड़े हुए जाते हैं।" राजा के मुख से हुक्म निकलने की देर थी। चोबदारों ने तीन पंडितों को जो उस समय वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य और बृहस्पति के समान प्रख्यात थे, बात की बात में राजा के सामने ला खड़ा किया। राजा का मुँह पीला पड़ गया था, माथे पर पसीना हो आया था। उसने पूछा कि "वह कौन सा उपाय है जिससे यह पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पावे?" उनमें से एक बड़े बूढ़े पंडित ने आशीर्वाद देकर निवेदन किया कि "धर्मराज धर्मावतार, यह भय तो आपके शत्रुओं को होना चाहिए। आपसे पवित्र पुण्यात्मा के जी में ऐसा संदेह क्यों उत्पन्न हुआ? आप अपने पुण्य के प्रभाव का जामा पहनके बेखटके परमेश्वर के सामने जाइए, न तो वह कहीं से फटा कटा है और न किसी जगह से मैला कुचैला है।" राजा क्रोध करके बोला कि "बस अपनी वाणी को अधिक परिश्रम न दीजिए और इसी दम अपने घर की राह लीजिए। क्यों आप फिर उस पर्दे को डाला चाहते हैं जो सत्य ने मेरे सामने से हटाया है? बुद्धि की आँखों को बंद किया चाहते

हैं जिन्हें सत्य ने खोला है ? उस पवित्र परमात्मा के सामने अन्याय कभी नहीं ठहर सकता। मेरे पुण्य का जामा उसके आगे निरा चीथड़ा है। यदि वह मेरे कामों पर निगाह करेगा तो नाश हो जाऊँगा, मेरा कहीं पता भी न लगेगा ?"

इतने में दूसरा पंडित बोल उठा कि "महाराज परब्रह्म परमात्मा जो आनंदस्वरूप है उसकी दया के सागर का कब किसी ने वारापार पाया है, वह क्या हमारे इन छोटे-छोटे कामों पर निगाह किया करता है, वह कृपा-दृष्टि से सारा बेड़ा पार लगा देता है।" राजा ने आँखें दिखलाके कहा कि "महाराज ! आप भी अपने घर को सिधारिए। आपने ईश्वर को ऐसा अन्यायी ठहरा दिया है कि वह किसी पापी को सजा नहीं देता, सब धान बाईस पसेरी तोलता है, मानों हरबोंगपुर का राज करता है। इसी संसार में क्यों नहीं देख लेते जो आम बोता है वह आम खाता है और जो बबूल लगाता है वह काँटे चुनता है। क्या उस लोक में जो जैसा करेगा, सर्वदर्शी घट-घट-अंतर्यामी से उसका बदला वैसा ही न पावेगा ? सारी सृष्टि पुकारे कहती है, और हमारा अंतःकरण भी इस बात की गवाही देता है कि ईश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा; जो जैसा करेगा वैसा ही उससे उसका बदला पावेगा।"

तब तीसरा पंडित आगे बढ़ा और उसने यों जबान खोली कि "महाराज ! परमेश्वर के यहाँ हम लोगों को वैसा ही बदला मिलेगा जैसा कि हम लोग काम करते है। इसमें कुछ

भी संदेह नहीं, आप बहुत यथार्थ फरमाते हैं। परमेश्वर अन्याय कभी नहीं करेगा, पर वे इतने प्रायश्चित्त और होम और यज्ञ और जप, तप, तीर्थयात्रा किस लिये बनाए गए हैं? वे इसी लिये हैं कि जिसमें परमेश्वर हम लोगों का अपराध क्षमा करे और बैकुंठ में अपने पास रहने की ठौर देवे।" राजा ने कहा "देवताजी, कल तक तो मैं आपकी सब बात मान सकता था लेकिन अब तो मुझे इन कामों में भी ऐसा कोई दिखलाई नहीं देता जिसके करने से यह पापी मनुष्य पवित्र पुण्यात्मा हो जावे। वह कौन सा जप, तप, तीर्थयात्रा, होम, यज्ञ और प्रायश्चित्त है जिसके करने से हृदय शुद्ध हो और अभिमान न आ जावे? आदमी को फुसला लेना तो सहज है पर उस घट-घट के अंतर्यामी को क्योंकर फुसलावे! जब मनुष्य का मन ही पाप से भरा हुआ है तो फिर उससे पुण्य कर्म कोई कहाँ से बन आवे। पहले आप उस स्वप्न को सुनिए जो मैंने रात को देखा है तब फिर पीछे वह उपाय बतलाइए जिससे पापी मनुष्य ईश्वर के कोप से छुटकारा पाता है।"

निदान राजा ने जो कुछ स्वप्न रात में देखा, सब ज्यों का त्यों उस पंडित को कह सुनाया। पंडित जी तो सुनते ही अवाक् हो गए, उन्होंने सिर झुका लिया। राजा ने निराश होकर चाहा कि तुषानल में जल मरे, पर एक परदेशी आदमी सा, जो उन पंडितों के साथ बिना बुलाए घुस आया था यों निवेदन करने लगा—"महाराज, हम लोगों का कर्ता ऐसा दीनबंधु कृपासिंधु है कि अपने मिलने की राह आप ही बतला देता है, आप निराश न हूजिए पर उस राह को

ढूँढ़िए। आप इन पंडितों के कहने में न आइए पर उसी से उस राह के पाने की सच्चे जी से मदद माँगिए।" हे पाठकजनो! क्या तुम भी भोज की तरह ढूँढते हो और भगवान् से उस राह के मिलने की प्रार्थना करते हो? भगवान् तुम्हें ऐसी बुद्धि दे और अपनी राह पर चलावे, यही हमारे अंतःकरण का आशीर्वाद है।

"जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।"

प्रतापनारायण मिश्र

धोखा

इस प्रकार के आत्मव्यंजक निबंधों में विषय का विशेष महत्त्व नहीं होता; महत्त्व होता है लेखक की मनमौजी सरस अभिव्यक्ति-शैली का, जिसके द्वारा जीवन की अनेक मार्मिक अनुभूतियों से संपन्न उसका व्यक्तित्व अपनी कमजोरियों और विशेषताओं के साथ प्रकट होता है। इनमें विचारों की गहनता और विश्लेषण की प्रवृत्ति का अभाव होता है। लेखक अनेक प्रकार की कल्पनाओं और अनुभवसिद्ध युक्तियों द्वारा चमत्कार उत्पन्न कर पाठक को रमाता चलता है। स्वच्छंद मनःस्थिति, संवेदनशीलता, विनोदमयता, आत्मीयता और रंजकता आदि आत्मव्यंजक निबंध की प्रायः सभी विशेषताएँ इस रचना में स्वयमागत हैं।

विनोद-रसिक प्रतापनारायण मिश्र की लेखनी जिह्वा के

समान स्वच्छंद होकर चलती है—इसी लिये उसमें अकृत्रिम प्रवाह तथा सजीवता भी है और यत्र-तत्र ग्रामीणता की झलक भी। बोलचाल, कहावतें और मुहावरे भी हैं और अनुप्रास तथा श्लेष का चमत्कार भी। अपनी इसी बेतकल्लुफी के कारण ये पाठक से पूरी आत्मीयता स्थापित कर लेते हैं। "भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाए हुए भव में जो कुछ है भ्रम ही है"—यही इस निबंध की केंद्रीय स्थापना है, जिसकी भाव-परिधि का लेखक ने ऐसा विस्तार किया है कि उसके भीतर अनेक रंजक विषयों का समावेश हो गया है और 'धोखे' की माया देखकर चमत्कृत हो जाना पड़ता है।

धोखा

पूजा. शून्य ८।

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महा कठिन तो अवश्य है। जब कि भगवान् रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिये अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके

विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योऽस्य वक्ता" "चित्रं देवानामुदगादनीकं" इत्यादि कहा है, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम माया-वपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। और सच भी यही है; जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है! हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चय-पूर्वक 'इदमित्थं' कह ही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर यह निर्भ्रम कैसा? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ?

वेदांती लोग जगत् को मिथ्या, भ्रम समझते हैं, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वे फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों

हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है! भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं! और कौन जाने, हो तो हमें उससे काम नहीं! परमेश्वर सबका भरम बनाए रक्खे इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं, वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मानके सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, वरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और "नारि नारि सब एक हैं, जस मेहरि तस माय" इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है!

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और

'मूँदि गई आँखैं तब लाखैं केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे संबंध तोड़ दें तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जायँ! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट खट, टन टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव! कैसी आत्मा! एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है। इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःख का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदितसुखदुःखनिर्विशेषस्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और

लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों में रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदासजी का 'माया मोहनी मनहरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं। धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर ढिच्चर होने लगे, वरंच रही न जाय, तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती है? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है, और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके संबंध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते; यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसका उसकी निंदा करना नीति-विरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे बक

अल्प बुद्धि

डालना और जो जी में समावे कर बैठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मरके आत्महत्या के पापभागी होइएगा ? यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किंतु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोख दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिकमत सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तो भी भविष्य के लिये हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकंडे ताड़ भी जाय तो किसी से

प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, [अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरुघंटाल के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादपूर्वक खा, इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है] अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व—यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझवालों का काम है। इससे (जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़के आपसे भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं,) और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहिएगा, नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओगे और खाओगे, क्योंकि जो हिंदू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

———

माधवप्रसाद मिश्र

श्रीपंचमी

श्रीपंचमी अथवा वसंतपंचमी हिंदुओं का एक प्रमोद-पूर्ण पर्व है। चंचल बालक-बालिकाओं तथा उल्लास से भरे हुए युवक और युवतियों के स्वास्थ्य-सौंदर्य-पूर्ण शरीर पर वासंती परिधान की अपूर्व शोभा इस दिन उत्साह और आनंद के नवीन लोक की ही सृष्टि कर देती है। सरस्वती-पूजा का भी अपने यहाँ यही दिन माना गया है।

लेखक ने इस निबंध में विद्या और बुद्धि की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का महत्त्व प्रतिपादित किया है। सरस्वती के उपासक अपने यशरूपी शरीर से स्वयं तो अमर रहते ही हैं, साथ ही जिसे वे चाहते हैं उसे भी अम रबना देते हैं। श्रीपंचमी के दिन भगवती वीणापाणि के सामने बैठकर ऐसे ही

महापुरुषों का ध्यान करना चाहिए। निबंध के अंत में लेखक ने मिथ्या-प्रचार के इस युग के प्रति जिसमें दुर्जन साधु-महात्मा के रूप में प्रसिद्ध किए जाते हैं तथा वास्तविक धर्मात्माओं को कोई पूछता भी नहीं—अपना क्षोभ प्रकट किया है।

इस विचार-प्रधान निबंध में, बीच-बीच में, ओजपूर्ण भावात्मकता की योजना ने इसे अत्यंत प्रभावशाली बना दिया है।

श्रीपंचमी

इस बात को अनेक जन जानते होंगे कि हिंदुओं की प्रत्येक बात में धर्मभाव प्रतिष्ठित है, यहाँ तक कि उनका आमोद-प्रमोद वा हँसी-दिल्लगी भी भगवत्-संबंध से खाली नहीं है। कोई सप्ताह भर में एक बार निराकार को बाहर देखकर अपने सिर से एक बला टाल देता है और कोई दिन भर में पाँच बार के पंचांग पाठ पर अभिमान करने लगता है कि हमारे बराबर उपासक जन एक भी नहीं। किंतु यदि निरपेक्ष भाव से दुराग्रह छोड़कर हिंदुओं के सनातन धर्म की आलोचना की जाय तो यह सहज ही में निश्चय हो जायगा कि इस जाति की तुलना दूसरी जाति धर्मभाव में नहीं कर सकती। हमारे दूरदर्शी प्राचीन महर्षि हमारे लिये अमृत ही नहीं छोड़ गए वरंच विष में भी 'अमृत' मिलाकर हमें निर्भय कर गए हैं! यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम शास्त्ररहस्य वा धर्मतत्त्व को न जानकर अमृत को भी विष समझ त्याग रहे हैं।

माघ सुदी पंचमी का नाम 'वसंतपंचमी' है और इसका दूसरा नाम 'श्रीपंचमी' भी है। वसंतपंचमी नाम होने का यह

कारण है कि इसी दिन से 'वसंतोत्सव' का प्रारंभ होता है। यों तो बसंत ऋतु में चैत, वैशाख इन दो महीनों की गणना है, किंतु हमारे यहाँ के सहृदय पुरुष इसी दिन से बसंत को अलापने लग जाते हैं। इसी दिन से कुछ और ही प्रकार का पवन चलने लगता है—और ही प्रकार के मन हो जाते हैं। इसी दिन भगवान् मुरलीमनोहर पर गुलाल चढ़ाकर पहले पहल वसंत गाया जाता है। इसी दिन से डफ बजने लगता है। 'ऋतुराज' के स्वागत की धूमधाम इसी दिन से आरंभ हो जाती है। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि इस उत्सव में भगवद्भजन ही की प्रधानता है।

दूसरा नाम इसका 'श्रीपंचमी' है। इस नामकरण का कारण हमारे शास्त्र में यह* लिखा है कि इस पवित्र दिन से पंचमी का व्रत प्रारंभ होता है। भगवती लक्ष्मी देवी ने नारद मुनि को उपदेश किया है कि "जो सौभाग्यवती स्त्री इस दिन से व्रत प्रारंभ कर छः वर्ष तक प्रति मास पंचमी का व्रत करेगी वह मेरे समान सुखी और पतिवल्लभा होगी।" प्रिय

इस दिन जगदंबा वीणापाणि सरस्वतीजी का 'सारस्व-

---

*"इमां ब्रह्मपुराणोक्तां या करोति च पञ्चमीम्।
लक्ष्मीसमा भवेन्नारी इह लोके परत्र च ॥
विधानं शृणु धर्म्मज्ञ ! यादृशी पञ्चमी मम।
वर्षाणि षट् प्रकर्तव्या परमप्रीतिमानसा ॥
शुद्धकाले तु संप्राप्ते पञ्चमी या शुभा भवेत्।
तस्यामारभ्य कर्तव्यं व्रतं पापप्रणाशनम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

तोत्सव' करना लिखा है। दिन के प्रथम भाग अर्थात् पूर्वाह्न काल में पुष्प-धूपादि से सरस्वती के षोडशोपचार पूजन और 'दवात कलम' के अर्चन का विधान है।* यही वह दिन है जिसकी प्रतीक्षा भारत के कविजन वर्ष दिन से किया करते हैं। इस दिन जिस शिष्य को उपदेश दिया जाता वह कृतार्थ होता है। गुरुकृपा से जिसको इस दिन 'सरस्वती-कवच' मिल जाता है वह असाधारण बुद्धि-संपन्न होता है। किंतु अब वह समय नहीं है। भारतवर्ष के मूर्ख नास्तिक-प्राय पुरुष अब इस दिन का महत्त्व भूलते जाते हैं।

जब कोई विचारवान् पुरुष कुछ काल के पश्चात् अपनी जन्मभूमि को देखकर प्रसन्न होता है और उसके दर्शन मात्र से एक एक करके वे सब बातें उसे स्मरण होने लगती हैं, जो वहाँ हो चुकी हैं, वह माता-पिता की असाधारण कृपा, वह लड़कपन का स्वाभाविक चरित्र, वह समवयस्क मित्रों की सरस बातें, वह पाठशाला का लिखना-पढ़ना, सहपाठियों से लड़ना-झगड़ना और गुरुजनों की प्रेमपरिपूर्ण ताड़ना, जब याद आती हैं तब हृदय की जैसी दशा होती है वह हृदय ही जानता है। यदि दुर्भाग्यवश स्नेही मित्र और बंधुजनों से वियोग हो गया हो, तो वह देश वा स्थान और भी काटने लगता है। उस समय

---

* पञ्चम्यां पूजयेल्लक्ष्मीं पुष्पधूपान्नवारिभिः।
मस्याधारं लेखनीञ्च पूजयेन्न लिखेत्ततः॥
माघे मासि सिते पक्षे पञ्चमी या श्रियः प्रिया।
तस्याः पूर्वाह्ण एवेह कार्य्यः सारस्वतोत्सवः॥
(भविष्योत्तर)

सुख होता है कि दुःख, यह तो भुक्तभोगी ही जानें, किंतु इस बात को हम भी कुछ जानते हैं कि केवल दुःख ही दुःख नहीं होता, कुछ सुख भी होता है; क्योंकि देखा गया है कि अपने मृत पुरुषों के श्मशान वा समाधिस्थान के देखने से अश्रुपात होता है, कुछ दुःख भी होता है, किंतु सुख-शांति न होती तो दर्शन की प्रवृत्ति ही क्यों होती ?

जैसे देश वा स्थान का प्रभाव मनुष्य के चित्त पर अच्छा वा बुरा अवश्य पड़ता है, ठीक वैसे ही काल का भी प्रभाव मानव-मंडली पर व्यर्थ नहीं पड़ता, चाहे काल का महत्त्व हमें निज बुद्धि-दोष के कारण ज्ञात न हो परंतु इसमें संदेह नहीं कि बड़े-बड़े तार्किक और दार्शनिक पंडित इस विषय का मंडन कर गए हैं कि साधन-सामग्री में काल वा समय भी एक मुख्य वस्तु है। चाहे खेत कैसा ही अच्छा हो, जल का भी अभाव न हो और किसान भी कृषिकार्य में कुशल हो, तथापि बिना मौसम की खेती कदापि न लगेगी। इस कारण कालपुरुष के साथ काल की तुलना शास्त्रकारों ने की है। यहाँ इस विषय का विचार नहीं करना है कि काल क्या वस्तु है और कार्य मात्र के प्रति उसकी कारणता क्यों स्वीकार की गई है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि हमारे शास्त्रकारों ने प्रत्येक कार्य का विधान देश, काल और पात्र के अनुसार किया है, जो युक्तियुक्त होने से सर्वथा उपादेय है। दिन में क्यों जागना और रात में क्यों सोना इत्यादि प्रश्न उठा। स्वभावसिद्ध और समयानुकूल कार्यों में यदि कोई दुराग्रही कुछ हेरफेर करना चाहे तो कर भी सकता है, परंतु इससे कष्ट और हानि के अतिरिक्त लाभ की संभावना नहीं है। होली, दीवाली आदि वार्षिकोत्सवों वा त्योहारों पर

निर्णय

जो कुछ क्रिया-कलाप हमारे यहाँ होता है एवं शास्त्र ने जिसका विधान भी किया है, उसका ठीक वही काल है, उस काल में कालोचित कार्य करने पर मनुष्य उतना ही लाभवान् होता है जितना मौसम पर खेती करनेवाला किसान।

श्रीपंचमी या वसंतपंचमी भी हमारा एक बड़ा त्योहार है। केवल इसी कारण से नहीं कि इस दिन देवमंदिरों में वसंत का खूब ठाठ जमता है, प्रत्युत इसलिये भी यह दिन अधिक माननीय माना गया है कि इस दिन उस महाशक्ति का महोत्सव होता है जिसके बिना बड़े-बड़े सूर-सामंतों की बड़ी भारी सेना बात की बात में एक ही निर्बल पर बुद्धिमान् पुरुष से परास्त हो गई, जिसके बिना राजाधिराज भिक्षुक बन गए और तेजस्वी निस्तेज हो गए। उसी ब्रह्मस्वरूपा सनातनी शक्ति महामाया सरस्वती देवी के आराधन का यह पवित्र दिन है।

गौतम, कणाद, कपिल और व्यास आदि के आनंद का यही दिन है। कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों का यही उपास्य समय है। विक्रम और भोज के समय में इस दिन की धूमधाम का ठिकाना न था, क्योंकि सरस्वती की सुसंतान का यह महापर्व है। सच्चे सारस्वतों का यह 'सारस्वतोत्सव' सर्वस्व है। भारत में अब कितने महापुरुष इस दिन की महिमा समझनेवाले हैं? कितने पुरुष हैं जो यह समझते हों कि तेज तथा प्रताप का कारण शुष्क वीरता नहीं है, सरस्वती-प्रदत्त बुद्धिमत्ता है। पुराणों में लक्ष्मी का वाहन उलूक और सरस्वती का हंस लिखा है। क्या इससे हमको यह शिक्षा नहीं मिलती कि लक्ष्मी के कृपापात्र प्रायः घोंघावसंत होते हैं जिनको दिनमणि के प्रकाश में सूझता तक नहीं और सरस्वती के दयापात्र वे महा

पुरुष होते हैं जिनमें 'दूध का दूध और पानी का पानी' करने की असाधारण सामर्थ्य विद्यमान है, जिनको भूत, भविष्य और वर्तमान के महत्त्व समझने की महाशक्ति परमात्मा ने दी है और जो सरस्वती की पूर्ण कृपा से महाशक्तिमान् पद के अधिकारी हैं।

सरस्वती की जिन पर कृपा है, वे ही विधाता के स्नेहभाजन होते हैं, महासरस्वती की अपर मूर्ति महालक्ष्मी का उन्हीं के यहाँ आसन जमता है। जरा विचार कर तो देखिए, प्रबल पराक्रांत महावीर महाराष्ट्र पानीपत के पिछले युद्ध में नादिरशाह से क्यों परास्त हुए? पलाशी के प्रसिद्ध युद्ध में सिराजुद्दौला पर जयश्री क्यों अप्रसन्न हुई और मुष्टिमात्र सेना से लार्ड क्लाइव ने क्यों विजय पाई? क्या कभी विचार कर देखा है? देखने पर विदित होगा जो सरस्वती के कृपापात्र थे वे ही यथार्थ में बलवान् सिद्ध हुए और वे ही युद्धविजयी हुए।

पाठक! श्रीपंचमी के दिन भगवती वीणापाणि के सामने बैठकर उन महापुरुषों का एक बार ध्यान करना चाहिए जिनका पार्थिव शरीर सहस्रों वर्षों से संसार में नहीं, किंतु जिनका यशरूपी दिव्य विग्रह ज्यों का त्यों बना है और ज्ञात होता है 'आचंद्रदिवाकर' बना रहेगा।

आज दिन लोगों को उन महाप्रतापी, महावीर राजाधिराजों का नाम तक याद नहीं रहा, जिनके नाम बड़े-बड़े ऊँचे जयस्तंभों पर लोहलेखनी से पाषाण में खोदे गए थे। वे ऊँचे ऊँचे स्तूप वा मीनार जो किसी समय साहंकार दंडायमान थे, अपने यश के साथ भूगर्भ में समा गए किंतु उन सरस्वती के पात्रों का नाम मिटानेवाला कौन है जो औरों का नाम भी अमर कर गए हैं।

श्रीपंचमी

वाचकवृंद! हमारे पूर्वजों ने जिस प्रकार दशहरे का त्योहार शस्त्रपूजन के निमित्त नियत किया है, जिससे कि भारत के वीर पुरुषों के अतीत गौरव तथा युद्धलीला का स्मरण होता है उसी प्रकार 'श्रीपंचमी' भी पूर्व गौरव का स्मारक है। भेद इतना ही है कि उस दिन के शस्त्र लेखनी और मसीपात्र हैं, तथा वीर हैं व्यास आदि महर्षियों का स्मरणीय विद्यावैभव। पिछली विद्या से वर्तमान विद्या के मिलान करने का यही दिन है। इसे दवात-कलम की जड़पूजा समझकर परित्याग न करना चाहिए। यह अलौकिक प्रतिभा की पूजा है जो गुदगुदे जी-वाले पर विलक्षण असर करती है।

पाठक! श्रीपंचमी तो आ गई किंतु इस दिन भारत में माता सरस्वती की पूजा कौन करेगा? यही चिंता है। क्या हम लोग इस योग्य रह गए हैं कि भगवती के सामने इस दिन पवित्र लेखनी का स्पर्श करें? जो लोग जान बूझकर दुराग्रह और द्वेष के कारण धर्म-प्रचारक साधु सच्चरित्र महानुभावों पर अपशब्दों की वृष्टि कर और निज नीच हृदय का उद्गार निकालकर वाणी की अप्रतिष्ठा कर रहे हैं, क्या वे लोग इस दिन लेखनी की पूजा कर सकते हैं? परदारलंपट को जितेंद्रिय, धूर्तप्रवंचक को संसारत्यागी निर्लोभ संन्यासी, धर्म और देश के संहारकर्ता उदरसर्वस्व को देशहितैषी धर्मात्मा, और गंडमूर्ख को सुपंडित सुलेखक सुवक्ता लिखना जिनके बाँएँ हाथ का खेल है, जो सामान्य लोभ के कारण अपनी पेटभरी आत्मा के विरुद्ध लिखने में नेक भी संकोच नहीं करते, उन्हें लेखनो वा सरस्वती पूजने का क्या अधिकार है? जो रुपए लेकर पतित से पतित पुरुष को भी धर्मात्मा और वर्णसंकर वा शूद्र को क्षत्रिय बना सकते

हैं, धर्मव्यवस्था के नाम से अधर्म और रक्त से भरी व्यवस्था दे सकते हैं और जो एक दरिद्र निःसंबल पर धर्मात्मा पुरुष के गिड़गिड़ाने और हाय खाने पर भी बिना टका लिए चार-पाँच पंक्ति लिखना मूर्खता समझते हैं, उन अर्थ-पिशाच पापियों का इस सारस्वतोत्सव में लेखनी-पूजन का क्या अधिकार है? वे शारदा के कुपुत्र माता सरस्वती के दरबार में किस मुँह से आ सकते हैं? यह आप ही सोच लें।

इसमें संदेह नहीं यदि हमारे कार्यों की छानबीन की जाय तो हम इस योग्य कदापि नहीं ठहर सकते कि सरस्वती देवी को 'मा' कहकर पुकारें, तथापि मा अंत को मा ही है। "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"। इसलिये आइए पाठक श्रीपंचमी के वार्षिकोत्सव में सब पापों की क्षमा माँगकर जगदंबा से प्रार्थना करें कि—

"वेदाः शास्त्राणि सर्वाणि नृत्यगीतादिकं च यत्।
न विहीनं त्वया देवि! तथा मे सन्तु सिद्धयः॥
लक्ष्मी मेधा धरा पुष्टिः गौरी तुष्टिः प्रभा धृतिः।
एताभिः पाहि तनुभिरष्टाभिर्मां सरस्वति!॥"

———

बालकृष्ण भट्ट

ज़बान

बालकृष्ण भट्ट के अनेक निबंधों का बाह्य विन्यास प्रतापनारायण मिश्र के ही ढर्रे का दिखाई देता है, पर उनकी प्रकृत गंभीरता और तर्कबुद्धि की अंतर्योजना सर्वत्र विद्यमान रहती है। उनमें प्रतापनारायण मिश्र की सी स्वच्छंदता नहीं दिखाई देती। उनके निबंधों में व्यंगपूर्ण वक्रता, विनोदमयता और रिझानेवाली खीझ एक साथ मिलकर उनके व्यक्तित्व का सुंदर उद्घाटन करती हैं। निबंध चाहे किसी प्रकार का हो पर, दो-एक अपवादों को छोड़कर, उसमें विचारों की सुश्रृंखल योजना और विवेचन की सतर्कता सदा देखी जा सकती है।

जबान के कारनामें बतला कर पाठकों से उसके निग्रह का आग्रह करना ही प्रस्तुत निबंध का मुख्य उद्देश्य

है। इसकी शैली बड़ी सजीव और चटपटी है। मुहावरों और कहावतों के साहचर्य से भाषा की मार्मिकता बढ़ गई है। तद्भव, तत्सम, बोलचाल, उर्दू और अँगरेजी शब्दों का पँचमेल एक ओर तो भारतेंदु-युग के लेखकों का व्यावहारिक भाषा से पूरा संपर्क द्योतित करता है और दूसरी ओर खड़ी बोली के साहित्यिक गद्य की आरंभिक अव्यवस्था।

ज़बान

कहने को मनुष्य के शरीर में पाँच इंद्रियाँ हैं और यह पुतला उन्हीं पाँच कर्मेंद्रियों का बना है, किंतु उन उन इंद्रियों का प्राबल्य केवल अपने विषय में है, अपना विषय छोड़ दूसरे के विषय में वे कुछ अधिकार नहीं रखतीं; जैसा कर्णेंद्रिय का अधिकार शब्द पर है तो कान को रूप से, जो नेत्र का विषय है, कुछ सरोकार नहीं है। ऐसा ही नेत्र को त्वगिंद्रिय (त्वचा) से जिसका अधिकार स्पर्श पर है, कुछ सरोकार नहीं है। कड़ी वस्तु देख नेत्र को न कुछ दुःख मिलता है न मुलायम को देख कुछ सुख। नासिका का विषय सुगंधि-दुर्गंधि है, शेष चार—शब्द, स्पर्श रूप, रस से नासिका को कोई प्रयोजन नहीं है।

पर जबान सब इंद्रियों में इतनी प्रबल है कि यह जाइका लेने के समय सिवाय रस के, जो इसका प्रधान विषय है, शब्द, स्पर्श, रूप, गंध सबों को अपने साथ समेटती है। भोजन के साथ जरा भी दुर्गंधि हो या खाना जिसे हम खा रहे हैं, गंधाता हो कभी न खाया जायगा। खाने की कौन कहे मिचलाई आने लगेगी। जो पेट में है वह भी बाहर निकल पड़ेगा। उनकी तो बात ही निराली है जिन्हें दुर्गंधि ही सुगंधि है।

हमारे साहबान अँगरेजों के साफ और सुथरे दस्तरखान पर चमाचम रकाबियों में जब तक महीनों की सड़ी मांस या मछली और पनीर न रक्खी हो तब तक लज्जत और जाइका नहीं जिसकी भभक प्राय दूर ही से नाक सड़ती है। जितनी ही जियादह भभक हो उतनी ही जियादह जाइका! किंतु सफाई को इतना अधिक अधिकार दिया गया है कि होटलिये हिंदुस्तानी भाई भी उसी सफाई पर मोहित हो साहबों की जूठी रकाबियों पर मक्खी सा जा टूटते हैं। इलायची, केवड़ा, केसर आदि सुगंधित द्रव्य इसी प्रयोजन से भोजन के पदार्थों में मिलाए जाते हैं जिससे उसमें सुगंधि आ जाए, और सुगंधित भोजन मामूली भोजन से सवाया अधिक खाया जाता है।

अब दूसरी बात, नेत्र को जिह्वा से क्या सरोकार है? साफ और स्वच्छ पदार्थ देखते ही जीभ से पानी टपकने लगता है, स्वादिष्ठ भोजन कसीफ और मैला हो तो, भाव दुष्ट होने से चित्त उसपर इतना नहीं लहलोट होता जितना साफ और स्वच्छ पदार्थ पर जो नेत्र को भावता हो। इसी तरह स्पर्श-सुख का सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभव जैसा जीभ कर सकती है वैसा शरीर के दूसरे हिस्से नहीं कर सकते। इसी से जीभ का रसना यह नाम सब भाँति सार्थक है। ईश्वर न करैं रसना किसी की रस के अनुभव में तेज और चोखी हो। चटोरी जीभ लाखों रुपया चाट बैठती है और हविस उसकी नहीं बुझती। न जानिए कितने लोग केवल चटोरी जीभ के कारण लाख का घर खाक में मिलाय सब चाट बैठे। जुआ, शराब, ऐयाशी, चटोरपन इन चारों ऐबों में किसी एक का हो जाना बरबादी के छोर तक पहुँचाने के लिये काफी है। दैव के कोप से

जिनमें चारों हैं उनकी सपूती और लियाकत का भला क्या कहना।

तब तक मनुष्य जितेंद्रिय नहीं हो सकता, चाहै और सब इंद्रियों को वश में कर भी लिया हो, जब तक रसना को अपने वश में नहीं किया। एक जिह्वा को काबू में रख बाकी और इंद्रियाँ काबू में आ सकती हैं। और भी—

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥

चटोरी जीभ के कारण मनुष्य मूढ़ बन मछली के समान जिह्वा के वश में पड़ नष्ट हो जाता है।

जितने खाद्य पदार्थ हैं उनका स्वाद या जाइका जिह्वा के अग्रभाग से क्षण भर के संयोग का है, गले के नीचे उतरा कि स्वादिष्ठ और बेलज्जत भोजन दोनों एक से हैं।

केवल स्वाद चखना जीभ का फायदा हो सो नहीं वरन् शरीर के और अंग की अपेक्षा इसके गुण या दोष भी सबसे अधिक प्रबल हैं। बड़े से बड़ा फायदा और बड़े से बड़ा नुकसान दोनों इसके द्वारा हो सकते हैं। गाँठ का एक पैसा भी बिना गँवाए मीठी जबान लाखों का फायदा सहज में कर सकती है—

"कागा काको धन हरै कोयल काको देय।
मीठो बचन सुनाय के यश अपनो कर लेय॥"

नुकसान भी आदमी कड़ुई या बदजबानी से इतना उठाता है कि सब उमदा सिफतों के होते भी लोग कटुभाषी या बदजबान के पास जाते हिचकते हैं, कटहा कुत्ता-सा वह सबों से बरकाया जाता है। जबान को समस्त सभ्यता और शाईस्तगी का सारांश कहना अनुचित नहीं है। अब तक जो कुछ तरक्की संसार में हुई

है उसका द्वार जबान ही है। इन्सान और हैवान में यही तो अंतर है कि जानवर हम लोगों की तरह अपने खयाल जबान से कहकर नहीं अदा कर सकते, नहीं तो और सब इंद्रियों के लालन-पालन में आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि के द्वारा पशु और मनुष्य की समता होने में कौन सा अंतर बच रहा। लिख कर अक्षरबद्ध रख छोड़ने का क्रम तो बहुत दिनों के बाद निकला। आरंभ में जबान से कहना और कान से सुन उसे याद रखना ही बहुत दिनों तक जारी रहा। ज्यों ज्यों लोग अधिक सभ्य होते गए, हिंदी की चिंदी निकालने लगे तब वे ही सूत्र जो जबान से कहे गए उनपर भाष्य, शरह और कमेंटरी होती गई और उन्हें बृहत् होने के कारण स्मरण-शक्ति के बाहर समझ लोगों ने संकेत के ढंग पर अक्षर निकाले और लिखकर रख छोड़ने लगे।

तात्पर्य यह कि यावत् विद्या और ज्ञान पहले जिह्वा से कह कर प्रकट न किए गए होते तो केवल लेख-शक्ति से कुछ न होता, न हमारी सभ्यता इस छोर तक पहुँचती। जबान को दबाना क्रोध को दबा रखने का एक ही उपाय है। कई बार की आजमाई हुई बात है कि कैसा ही क्रोध आया हो चिल्लाने के एवज धीरे-धीरे बोलो, क्रोध, क्रम-क्रम आप ही शांत हो जायगा। जीभ समाज को कहाँ तक लाभदायक हुई सो दिखला चुके।

अब धर्म-संबंध में जिह्वा पर लगाम रखने की कितनी आवश्यकता है सो दिखलाते हैं। सच तो यों है कि जीभ पर बिना कोड़ा रक्खे धर्मिष्ठों को धर्मधुरंधर बनने का दावा करना सर्वथा व्यर्थ है। वह अवश्य धोखे में पड़ा है जो अपने को

धर्मिष्ठ तो मानता है पर जीभ को अपने काबू में नहीं किया। झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, चुगली, बदगोई इत्यादि से बचना ही जीभ पर लगाम नहीं कहलावेगा क्योंकि झूठी गवाही, चुगली-गाली इत्यादि बड़े-बड़े पापों का विषय निराला है। कानून फौजदारी 'क्रिमिनल ला' की मद्द में उसकी गिनती है और सरकार की ओर से उसके लिये दंड नियत है। जिस पर जान-बूझकर शामत सवार होगी वही ऐसे-ऐसे अपराधों में अपने को फँसाय कैद और जुरमाने का सजावार बनेगा।

बल्कि जबान में लगाम से प्रयोजन गप्पी और वाचाल का है, जिसे अपनी गप्पाष्टक के समय आगे-पीछे का कुछ खयाल नहीं रहता, न अपनी या पराये की हानि लाभ का। जिनको गप्प हाँकने की आदत हो गई है वे इसे अपने लिये दिल-बहलाव मानते हैं। इसमें किसी तरह ऐब या पाप नहीं समझते और जब उनके गप्प का विषय चुक जाता है, कोई बात नहीं रहती जिस पर वे अपने गप्प को काम में लावें, तब वे कुछ ऐसी कल्पना किया करते हैं जिससे दूसरों को बदनाम करें, जीट उड़ावें, किसी का कुछ कलंक उद्घाटन करें इत्यादि। चुप उनसे नहीं रहा जाता, कुछ कहना अवश्य—

"मुखमस्ति च वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी"।

मुख में जीभ ईश्वर ने दी है तो कुछ कहना चाहिए। हाँ सुनिए, सौ हाथ की हरें। ऐसे लोग जिन्हें बहुत बकने का अभ्यास हो गया है, अपनी बकवाद की जोश में वह बात कह डालते हैं, जो न कहना चाहिए या जिसे कहकर पीछे पछताते हैं। यहाँ तक बेफायदा बकवाद उन्हें पसंद आती है कि जब तक मनमानता बक न लें, अघाएँगे नहीं; जैसा स्त्रियों में बहुधा

ऐसी होती हैं कि २४ घंटे में कम से कम ६ घंटे जब तक लड़ न लेंगी उन्हें अन्न न पचेगा। नौवाबों में क़िस्सेगो इस क़िस्म के रहते थे कि दिन भर कहो बकते रहें, उनके किस्से की लर न टूटे। चंडूखाने में चंडूबाजों की गप्प मशहूर हुई है। इन बकवादियों की भी कई क़िस्में हैं। कितने तो ऐसे हैं कि उनकी चाहे कोई सुने या न सुने उनको बक जाने से काम। कितने ऐसे हैं कि उनकी बकबक का किसी ने निरादर किया कि उन्हें क्रोध आ जाता है, बिगड़ खड़े होते हैं। कितने ऐसे हैं कि अपनी बकवाद को रंगीन और दिलचस्प न समझ सुननेवाले को नापसंदीदा जान चट्ट उसमें कुछ ऐसी ईजाद कर देते हैं कि थोड़ी देर के लिये सबों का ध्यान उस ओर मुखातिब हो जाता है। इसे वे एक हुनर मानते हैं और इस ढंग से बात करते है कि उनकी सरासर झूठ बात सब लोग सच मान लेते हैं।

जीभ को न दबाना अनेक बुराई और क्लेश का कारण है। महाभारत ऐसा सर्वनाशी संग्राम इसी जीभ के न दबाने की बदौलत किया गया। द्रौपदी ने यदि दुर्योधन को 'अंधे के अंधे होते हैं', इस मर्मवेधी वाक्य को कह मर्मताड़न न किया होता और दुर्योधन को पांडवों से खार न पैदा हुई होती तो परिणाम में १८ अक्षौहणी सेना काहे को कट मरती, जिसका धक्का जो हिंदुस्तान को लगा बल्कि जैसा घाव इसके शरीर में हो गया, उसकी मरहम पट्टी आज तक न हो सकी। इन्हीं सब कारणों से सिद्ध हुआ, मनुष्य अपनी जीभ पर जहाँ तक चौकसी कर सके उसको दबा सके, दबावै। इस पर चौकसी रखने से अनेक भलाइयाँ हैं और स्वच्छंद कर देने से सब तरह की बुराइयों की संभावना है।

जीभ को दबाना और चौकसी रखने से यह प्रयोजन नहीं

है कि हम सर्वथा मूकभाव धारण करलें, किंतु चुप रहने के भी मौके हैं। विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध या संसार की अनेक ऊँची-नीची बातों के अनुभव में जो अपने से अधिक हैं उनके सामने शालीनता के खयाल से चुप रहना होता है जिसमें यह कोई न समझै कि यह छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है। बहुत बकने-वालों में कितने ऐसे हैं कि घंटों तक बक जाते हैं पर उनके बात करने का खास मतलब क्या था, कुछ समझ में नहीं आता। इस तरह हर बात करने वालों की कई किस्में हम यहाँ पर गिना सकते हैं। एक वे हैं कि हँसते जाते हैं, बात करते जाते हैं—"हस्नुमूर्खः "हसन्न जल्पे" इत्यादि वाक्य साक्षी हैं कि बात कहने का यह क्रम मूर्खता की पहचान है। एक सखुन-तकियावाले होते हैं। दश लफ़्ज़ का एक जुमला होगा तो पाँच लफ़्ज़ उसमें उनके तकिया-कलाम के होंगे। इनमें जिन्हें गाली की सखुन-तकिया पड़ जाती है उनकी घिनौनी बात कान को महा असह्य मालूम होती है। एक वज्रभाषी होते हैं। बात उनके मुख से क्या निकली मानो गाज गिरा। ऐसों की आदत होती है कि जहाँ कोई बात बनती हो तो वे वहाँ पहुँच उसे बिगाड़ देने में कसर न करेंगे। उनकी वज्रभाषी कटुवाणी इस बात का चिन्ह है कि वे नरक झेल कर आये हैं और मरकर फिर नरक में जाएँगे। इसी के विरुद्ध एक ऐसे भी सुकृति-जन हैं जो अपनी मीठी बोली से मन खींच लेते हैं। धन्य हैं वे स्वर्गगामी जन, इत्यादि जिह्वा के संबंध में जो कुछ वक्तव्य था हमने सब कह सुनाया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी सरस्वती के सम्पादक रूप में जाने जाते हैं।

कालिदास का भारत

आधुनिक हिंदी भाषा को व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध और सुव्यवस्थित करने का श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को है।

प्रस्तुत निबंध का आरंभ यद्यपि भावात्मक शैली में किया गया है, तथापि समस्त निबंध में कथा-तत्त्व की ही प्रधानता है। महाकवि कालिदास के आधार पर लेखक ने हमारे सामने प्राचीन काल के भारत का एक दृश्य उपस्थित किया है। उस समय के गुरु कितने निःस्पृह थे, शिष्य कितने गुरु-भक्त थे और चक्रवर्ती सम्राट् तक विद्वानों के प्रति कितने विनीत थे, इसकी एक झलक हमें वरतंतु, कौत्स और रघु के वृत्तांत में मिलती है। इस दृश्य की तुलना में जब आधुनिक भारत का

चित्र हमारे सामने आता है तो निराशा, ग्लानि और लज्जा की भावना को उद्दीपित कर देता है।

द्विवेदी जी ने अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में विभिन्न विषयों पर विभिन्न शैलियों में सैकड़ों निबंध लिखे। तत्सम शब्दों के अतिरिक्त अरबी, फ़ारसी तथा अँगरेजी के शब्दों का भी यथास्थान प्रयोग, मुहावरों की यथावसर योजना और संयत एवं सुबोध भाषा में विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन उनकी शैली की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताएँ हैं, जिन्हें उनकी किसी भी रचना में सहज ही देखा जा सकता है।

कालिदास का भारत

सारांश (महत्वपूर्ण)

भारत ! क्या तुम वही पुराने भारत हो ? क्या तुम वही हो जहाँ रघु, दिलीप और राम का राज्य था ? समय ने तुम्हारी स्मृति भी प्रायः नष्टप्राय कर दी। समय की महिमा सर्वथा अज्ञेय और अतर्क्य है। उसी ने तुम्हें कुछ-का-कुछ कर दिया। अब तो तुम पहचाने तक नहीं जाते।

भारत ! क्या कभी तुम्हें अपनी पूर्व-स्मृति भी होती है ? तुम्हें भला कभी वे दिन भी याद आते हैं जब न रेल थी, न तार; न हाईकोर्ट था, न बोर्ड आव् रेविन्यू का दफ्तर; न करेंसी नोट थे, न प्रामीसरी नोट। वह वह समय था जब न कहीं नुमायशें थीं, न कांग्रेस थी, न मुसलिम-लीग थी, न हिंदू-सभा थी। यह सब न था, पर था कुछ जरूर। वह जो कुछ था, भूलने की चीज नहीं। उसकी याद सुखकारक भी है, दुःखकारक भी। तुम्हारी उस पूर्व दशा का दृश्य देखने को अब हम लालायित हो रहे हैं, पर नहीं देख पड़ता। कृतज्ञ हैं हम गवर्नमेंट के जिसकी बदौलत प्रयाग की प्रदर्शनी में तुम्हारे कुछ प्राचीन लीला-

दृश्य देखने को मिल गए। पर उतने से संतोष कहाँ ? उससे तो उन दृश्यों को देखने की लिप्सा और भी बढ़ गई। क्या कभी उसकी पूर्ति भी होगी ?

बात आजकल की नहीं, सौ दो सौ वर्ष की भी नहीं। उसे हुए हज़ारों वर्ष बीत गए। उस समय राजा रघु का राज्य था।ससागरा पृथ्वी के वे पति थे। साकेत नगरी उनकी राजधानी थी। सत्पात्रों को दे डालने ही के लिये वे धनोपार्जन करते थे; प्रजा के काम में लगा देने ही के लिये वे कर लेते थे, निर्बलों को प्रबलों के उत्पीड़न से बचाने के लिये वे धनुर्बाण धारण करते थे। विद्वानों का प्यार वे अपने प्राणों से भी अधिक करते थे, उन्हें वे देवता समझते थे, उनके पैर तक अपने हाथों से धोते थे। यह मजाल न थी कि अरण्यवासी विद्वानों के लगाए हुए एक छोटे से पौधे की एक टहनी भी कोई तोड़ ले—उनके खेतों से साँवाँ की एक बाल भी कोई चुरा ले जाय !

बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी विद्वान् बड़ी-बड़ी बस्तियों में उस समय न रहते थे। बस्ती से कुछ दूर जंगल में वे अपनी पर्ण-शालाएँ बनाते थे। साँवाँ, कोदों और कँगनी की वे खेती करते थे। गायें भी वे पालते थे। उनके पास सैकड़ों नहीं हजारों विद्यार्थी रहते थे। वे उन्हें विद्या का भी दान देते थे और भोजन-वस्त्र का भी। अन्याय, उत्पीड़न और चौर-कर्म का कहीं नाम न था। यज्ञ के पावन धूम से आसपास का प्रदेश सुरभित रहता था। वेद-घोष से दिशाएँ गुंजायमान रहती थीं। आचार्यों की आज्ञाएँ पालन करने में चक्रवर्ती राजा तक अपनी कृतार्थता मानते थे। ऐसे समय के भारत की एक झलक देखिए।

राजा रघु ने अपनी सारी संपत्ति विश्वजित् नामक यज्ञ में

दे डाली है। पास कुछ भी नहीं रक्खा। पानी पीने के लिये पीतल का लोटा भी नहीं रह गया। रह क्या गया है? मिट्टी का ही सकोरा, मिट्टी ही की हाँडी, मिट्टी ही की थाली। इस प्रकार सर्वस्व-दान-देकर आप रिक्त-हस्त हो गए हैं।

इसी समय वरतंतु नाम के बड़े तपस्वी और बड़े विद्वान् महात्मा राजा रघु के राज्य में तपश्चर्या और अध्यापन का काम करते हैं। आश्रम उनका जंगल में है। खेत-पात भी उनके वहीं हैं। अनेक ब्रह्मचारी आपके आश्रम में रहते और अध्ययन करते हैं। वरतंतु ऋषि की विद्वत्ता का यह हाल है कि वे चौदहों विद्याओं के निधान हैं। तप उनका इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उनके डर से इंद्र का आसन डिग रहा है। कहीं इतना घोर तप करके ये मेरा इंद्रत्व तो नहीं छीन लेना चाहते! इस डर से सुरेंद्र शर्मा को अप्सराओं की शरण लेनी पड़ी। पर वरतंतु जी के सामने उनकी एक भी न चली। वे अपना-सा मुँह लेकर लौट गईं। इन्द्र का वह भय सर्वथा निर्मूल था। इंद्रासन पाने की इच्छा अल्प-पुण्यात्माओं को ही हुआ करती है। वरतंतु जी ऐसे नहीं।

वरतंतु के आश्रम में कौत्स नाम का एक विद्यार्थी है। जब उसका अध्ययन समाप्त हो गया और वह पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य हुआ तब वरतंतु ने उसे घर जाने की आज्ञा दी। कौत्स ने भक्तिभाव के उन्मेष में आकर प्रार्थना की—

"आचार्य! मुझसे कुछ गुरु-दक्षिणा लीजिए। आप की कृपा से मैं मूर्ख से पंडित हो गया। अतएव मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं पत्र-पुष्परूपी थोड़ी-सी पूजा आप की करूँ।"

वरतंतु—"वत्स तुमने मेरे आश्रम में इतने दिन तक रह-

कर जो मेरी सेवा-शुश्रूषा की है उसी को मैं सबसे बड़ी गुरु-दक्षिणा समझता हूँ। यही क्या कम है?"

कौत्स—"नहीं आचार्य! कुछ आज्ञा तो अवश्य ही दीजिए कृपा कीजिए। मेरा जी नहीं मानता।"

वरतंतु—"कौत्स! दक्षिणा की अपेक्षा शिष्य की भक्ति मुझे विशेष संतोषदायिनी है। उसके मुक़ाबले में दक्षिणा कोई चीज़ नहीं। तुमसे मैं कुछ नहीं चाहता।"

कौत्स—"महाराज! आपको मेरा अनुरोध मानना ही पड़ेगा। मुझे अपना सेवक समझकर कुछ अपने मुँह से ज़रूर कहिए।"

शिष्य के इस हठ को देखकर आचार्य का महासागर सदृश शांत चित्त भी क्षुब्ध हो उठा।

"अतिशय रगड़ करै जो कोई,
अनल प्रकट चंदन ते होई।"

उन्हें रोष हो आया। उन्हें कौत्स की ग़रीबी का कुछ भी ख़याल न रहा। वे बोले "अच्छी बात है। तू गुरु-दक्षिणा दिए बिना जो घर नहीं जाना चाहता तो अब देकर ही जाना। मैंने तुझे चौदह विद्याएँ पढ़ाई हैं। अतएव एक-एक विद्या के बदले एक-एक करोड़ रुपया मुझे ला दे।"

कौत्स इस आज्ञा को सुनकर ज़रा भी नहीं घबराया। उसने—'जो आज्ञा'—कहकर गुरु को प्रणाम किया और वहाँ से चल दिया। जिस ब्राह्मण-कुमार के पास कौपीन, कमंडलु और पलाशदंड के सिवा और कुछ नहीं था उसने चौदह करोड़ अशर्फ़ियाँ अपने विद्या-गुरु को देने की दृढ़ प्रतिज्ञा की।

ज़रा इस घटना पर ध्यान दीजिए। वरतंतु ने कौत्स को बरसों पढ़ाया—कौन जाने बीस वर्ष पढ़ाया या पचीस वर्ष या इससे भी अधिक—पढ़ाया ही नहीं, अपने घर रक्खा; भोजन-वस्त्र भी दिया और बीमार होने पर सुताधिक स्नेह से उसकी रक्षा भी की। और इसके बदले में आपने पाया क्या! केवल शिष्य-भक्ति! उसी को आपने फ़ीस समझी, उसी को बोर्डिंग का ख़र्च, उसी को सब कुछ! यह तो हुआ आचार्य का हाल। अब शिष्य को देखिए। वह भक्ति-दान से संतुष्ट नहीं। वह यथाशक्ति कुछ और भी देना चाहता है। विना दक्षिणा के आश्रम से घर जाने के लिये उसका पैर ही नहीं उठता। और जब उससे चौदह करोड़ माँगा जाता है तब वह अपनी अकिंचनता का ज़रा भी ख़याल न करके प्रसन्नतापूर्वक कहता है—"बहुत अच्छा, आचार्य! चौदह करोड़ ही दूँगा।" ऐसी अवस्था में कौन अधिक प्रशंसनीय है—गुरु या शिष्य? इसका उत्तर देना कठिन है। गुरु भक्ति-भाव से ही ख़ुश है! चेले के पास चौदह कौड़ियाँ भी नहीं; पर गुरु की आज्ञा के अनुसार चौदह करोड़ देने की वह प्रतिज्ञा करता है! इस दृश्य का मुक़ाबला वर्तमान समय के विद्यालय-संबंधी दृश्य से कीजिए। आकाश-पाताल का अंतर है; तिल-ताड़ का अंतर है; कौड़ी-मुहर का अंतर है। है या नहीं? इसी से कहते हैं कि भारत! तुम कुछ के कुछ हो गए हो।

अच्छा इस दृश्य को आप देख चुके। अब इसके बाद एक और दृश्य देखिए। उसमें आपको पूर्वोक्त वरतंतु के आश्रम की झलक के सिवा और भी कुछ देखने को मिलेगा। साथ ही

आपको यह भी देखने को मिलेगा कि भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजा ऐसे आश्रमों की कहाँ तक खबर रखते थे। इस दृश्य के दिखाने का पुण्य महाकवि कालिदास को है। अपने रघुवंश में वे जो कुछ लिख गए हैं उसी की बदौलत हमें यह दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

चौदह करोड़ दे डालना ऐसे-वैसे आदमी का काम नहीं। राजाओं के लिये भी इतना बड़ा दान देना कठिन काम है। यही सोचकर कौत्स ने राजा रघु से याचना करने का निश्चय किया। राजा रघु की जो स्थिति उस समय थी उसका उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। परंतु कौत्स को इसकी कुछ भी खबर न थी। अतएव वह गुरु-दक्षिणा के लिये धन प्राप्त करने के इरादे से रघु के पास पहुँचा।

जिस रघु के ख़ज़ाने में कुछ समय पहले सोने के ढेर के ढेर भरे हुए थे उसके खाने-पीने के पात्र भी सोने ही के होंगे। इसमें क्या संदेह हो सकता है? परंतु वह समय सुवर्ण-संचय का न था। वह तो सारा का सारा दिया जा चुका था। अब रघु के पास पात्र थे मिट्टी के। वे यद्यपि चमकदार न थे, तथापि रघु का शरीर उसके अत्युज्ज्वल यश से ज़रूर ख़ूब चमक रहा था। उसके शील-स्वभाव का क्या कहना है। अतिथियों का—विशेष करके विद्वान् अतिथियों का—सत्कार करना वह अपना बहुत बड़ा कर्तव्य समझता था। इस कारण जब उसने उस वेद-शास्त्र संपन्न कौत्स के आने की ख़बर सुनी तब उन्हीं मिट्टी के पात्रों में अर्घ्य और पूजा की सामग्री लेकर वह उठ खड़ा हुआ।

आजकल के राजा कहलाए जानेवाले लोगों की तरह रघु

अपने आसन पर डटा नहीं बैठा रहा। कौत्स को देखते ही वह उठा। उठा ही नहीं, उठकर कुछ दूर तक गया भी और उस तपोधनी अतिथि को साथ लिवा लाया। रघु यद्यपि उस समय सुवर्ण-संपत्ति से धनवान् न था, तथापि मानरूपी धन को भी जो धन समझते हैं उनमें वह सबसे बढ़-चढ़कर था। महा-मानधनी होने पर भी रघु ने उस तपोधनी ब्राह्मण की विधिपूर्वक पूजा की। विद्या और तप के धन को उसने और सब धनों से बढ़कर समझा। चक्रवर्ती राजा होने पर भी रघु को अभ्यागत के आदरातिथ्य की क्रिया अच्छी तरह मालूम थी। अपने इस क्रिया-ज्ञान का यथेष्ट उपयोग करके रघु ने कौत्स को प्रसन्न किया। जब वह स्वस्थ होकर आसन पर बैठ गया तब रघु ने नम्रतापूर्वक, भृकुटी या हाथ के इशारे से नहीं किंतु वाणी द्वारा, कुशल-समाचार पूछना आरंभ किया। इतना ही नहीं राजा ने हाथ भी जोड़ने की ज़रूरत समझी। विद्वान् और तपस्वी की महिमा तो देखिए।

"हे कुशाग्रबुद्धे! कहिए, आपके गुरु तो मज़े में हैं? वे एक असाधारण विद्वान् हैं, वे सर्वदर्शी महात्मा हैं। जिन-जिन ऋषियों ने वेदमंत्रों की रचना की है उनमें उनका स्थान सबसे ऊँचा है। मंत्र-कर्ताओं में वे सबसे श्रेष्ठ हैं। जिस तरह सूर्य से प्रकाश प्राप्त होने पर यह सारा जगत सुबह सोते से जाग पड़ता है, ठीक उसी तरह आप अपने पूजनीय गुरु से समस्त ज्ञान-राशि प्राप्त करके और अपने अज्ञान-जात अंधकार को दूर करके जाग से उठे हैं। ज्ञानावस्था की प्राप्ति बड़ी ही सुखदायक होती है, उसकी महिमा अवर्णनीय है। एक तो आप की बुद्धि स्वभाव

ही से कुश की नोक के समान तीव्र, फिर महर्षि वरतंतु से अशेष ज्ञान की प्राप्ति! क्या कहना है? महाराज, आप धन्य हैं।"

रघु ने यहाँ पर वरतंतु की जो प्रशंसा की है और उनके लिये जो विशेषण दिए हैं उनसे बड़ी व्यापक ध्वनि निकलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह बड़े महत्त्व की है। उससे कालिदास के मानसिक भावों का भी खूब पता चलता है। दो हज़ार वर्ष पहले की ये बातें समझने और सोचने लायक हैं।

"हाँ महाराज! यह तो कहिए—आपके विद्या-गुरु महर्षि वरतंतु की तपस्या का क्या हाल है? उनके तपश्चरण के बाधक कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं—विघ्नों के कारण तपश्चर्या में कुछ कमी तो नहीं आती? महर्षि बड़ा ही घोर तप कर रहे हैं। उनका तप एक प्रकार का नहीं, तीन प्रकार का है। कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों से शरीर-द्वारा, तथा वेदपाठ और गायत्री आदि मंत्रों के जप से वाणी और मन के द्वारा वे अपनी तपश्चर्या की निरंतर वृद्धि किया करते हैं। उनका यह कायिक, वाचिक और मानसिक तप सुरेंद्र के धैर्य को भी चंचल कर रहा है। वह डर रहा है कि कहीं ये मेरा आसन न छीन लें। इसी से महर्षि के तपश्चरण-संबंध में मुझे बड़ी फ़िक्र रहती है। मैं नहीं चाहता कि उसमें किसी तरह का व्याघात पड़े; क्योंकि ऐसे-ऐसे महात्मा मेरे राज्य के भूषण हैं। उनके कारण मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ।

"आपके आश्रम के पेड़-पौधे तो हरे-भरे हैं? सूखे तो नहीं? आँधी और तूफ़ान आदि से उन्हें हानि तो नहीं पहुँची? आश्रम के इन पेड़ों से बहुत आराम मिलता है। आश्रमवासी

तो इनकी छाया से आराम पाते ही हैं, अपनी शीतल छाया से ये पथिकों के श्रम का भी परिहार करते हैं। इनके इसी गुण के कारण महर्षि ने इन्हें बच्चे की तरह पाला है। थाल्हे बना बनाकर उन्होंने इनको समय-समय पर सींचा है; तृण की टट्टियाँ लगाकर जाड़े से इनकी रक्षा की है; काँटों से घेरकर इन्हें पशुओं से खा लिए जाने से बचाया है।"

रघु के इस प्रश्न से यह ध्वनित होता है कि वायु पर भी राजा का अधिकार था। सर्वतोभाव से धर्मपूर्वक राज्य करने के कारण पंच-महाभूतों को भी उसने अपने वश में कर रक्खा था। पेड़ों को उखाड़ डालना या उनकी डालों को तोड़ देना तो दूर रहा, रघुवंशी राजाओं के राज्य में स्त्रियों के वस्त्र भी वायु बेकायदा नहीं उड़ा सकता था।

कुशल-संबंधी प्रश्नों में ऋषि के मृग-समुदाय को भी राजा रघु नहीं भूले। प्राचीन काल में अरण्यवासी मुनि मृगों को भी पालते थे, वे गृह-पशुओं की तरह उनके आश्रमों में विचरा करते थे।

"मुनिजन बड़े ही दयालु होते हैं। आपके आश्रम की हरिणियाँ जब बच्चे देती हैं तब ऋषि लोग उनके बच्चों की बेहद सेवा-शुश्रूषा करते हैं। आश्रम के आसपास सब तरफ जंगल है। उसमें साँप और बिच्छू आदि विषैले जंतु भरे पड़े हैं। उनसे बच्चों को कष्ट न पहुँचे, इस कारण ऋषि उन्हें प्रायः अपनी गोद से नहीं उतारते। उत्पन्न होने के बाद दस-बारह दिन तक वे उन्हें रात भर अपने उत्संग ही पर रखते हैं। अतएव उनके नाभिनाल ऋषियों के शरीर ही पर गिर जाते हैं। परंतु इससे वे ज़रा भी विषण्ण नहीं होते। जब वे बच्चे बढ़कर कुछ बड़े होते हैं तब

यज्ञादि बहुत आवश्यक क्रियाओं के निमित्त लाए गए कुशों को भी वे खाने लगते हैं। परंतु उनपर ऋषियों का अत्यंत स्नेह होने के कारण उन्हें ऐसा करने से भी वे नहीं रोकते। उनके नैमित्तिक कार्यों में चाहे भले ही विघ्न आ जाय, पर मृग-शिशुओं की इच्छा का वे विघात नहीं करते। आपकी यह स्नेह-संवर्द्धित हरिण-संतति तो मज़े में है? उसे कोई कष्ट तो नहीं?

"आपके तीर्थ-जलों की क्या हालत है? उनमें कोई ख़राबी तो नहीं? वे सूख तो नहीं गए? पशु उन्हें गंदला तो नहीं करते? इन तीर्थ-जलों को—इन तड़ागों और बावलियों को—मैं आपके बड़े काम का समझता हूँ। इन्हीं का जल आपके स्नानादि के नित्य काम आता है। अग्निष्वात्तादि पितरों का तर्पण भी आप इसी से करते हैं। इन्हीं के किनारे रेत पर आप अपने खेतों की उपज का षष्ठांश राजा के लिये रख छोड़ते हैं।"

यह वह समय था जब न कोई तहसीलदार था, न रेविन्यू मनीआर्डर थे, न लगान वसूल करने के लिये कोई क़ानून था। न किसी पर नालिशें होती थीं; न बेदख़ली थी, न कुर्की। राज-कर उपज के रूप में दिया जाता था—सो भी छः मन पीछे एक मन। झूठ, धोखेबाज़ी और चौर-कर्म का कहीं नाम न था। जिसे जितना कर देना होता था वह उतना किसी पास के कुवें, तालाब या बावली के किनारे चुपचाप रख देता था। समय पर राजकर्मचारी उसे उठा ले जाते थे। भारत का यह प्राचीन दृश्य किस सहृदय के कंठ को गद्गद और नेत्रों को साश्रु न करेगा?

"बलि-वैश्वदेव के समय अतिथि आ जाने से उसे विमुख जाने देना मना है। अतएव जिस जंगली तृण,धान्य (साँवाँ, कोदों आदि) से आप अपने शरीर की भी रक्षा करते हैं और अतिथियों की भी क्षुधा शांत करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं उसे भूल से छूट आए हुए गाँव और नगर के पशु खा तो नहीं जाते ?"

इन ऋषियों के उदर-निर्वाह की साधन-सामग्री को तो देखिए। वे खाते क्या थे—मक्का, कँगनी और साँवाँ ! पर विद्वत्ता उनकी ऐसी थी कि साकेत के चक्रवर्ती राजा उनके पैर अपने हाथ से धोते थे ! उनकी तपस्या का यह हाल था कि सुरराज इंद्र भी उसे देखकर कंपित होते थे !! Plain living and high thinking का ऐसा उत्कृष्ट नमूना क्या कभी किसी देश की किसी जाति में और कहीं पाया जा सकता है ? जान पड़ता है, ये ऋषि अनाज काटकर या तो वहीं खेत ही में रखते थे, या आश्रम के हाते में किसी खुली जगह या वहीं कहीं छप्परों के नीचे। अन्यथा नगर की गाय भैंसों से उनके खाए जाने का डर न होता। इससे सिद्ध है कि उस समय चोरी का तो कुछ ज़िक्र ही नहीं, पशु भी ऋषियों के आश्रम तक नहीं पहुँचने पाते थे। उनके मालिक उनको रखवाली का बड़ा ही अच्छा बंदोबस्त रखते थे। बहुत संभव है, इसमें ग़फ़लत होने पर उन्हें सख्त राजदंड भोगना पड़ता रहा हो।

"सब विद्याओं में निष्णात करके आपके गुरु ने आपको गृहस्थाश्रम-सुख भोगने के लिये क्या प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा दे दी है ? ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमों पर

उपकार करने का सामर्थ्य एक गृहस्थाश्रम ही में है। आपकी उम्र अब उसमें प्रवेश करने के सर्वथा योग्य है।

"आप हमारे परम पूज्य हैं। अतएव सिर्फ़ आपके आगमन से ही मुझे विशेष आनंद नहीं प्राप्त हो सकता। यदि आप दया करके मुझसे कुछ सेवा भी लें तो अवश्य मुझे विशेष आनंद हो सकता है। अतएव आप मेरे लिये कुछ काम बतलावें, कुछ तो आज्ञा करें। हाँ, भला यह तो कहिए कि आपने जो मुझपर यह कृपा की है, वह आपने अपने ही मन से की है या गुरु की आज्ञा से? वन से इतनी दूर मेरे पास आने का क्या कारण है?"

इस विस्तृत कुशल-प्रश्नावली के समाप्त होने पर कौत्स ने कहा—

"राजन्! हमारे आश्रम में सब प्रकार कुशल है। हमारे तपश्चरण में कोई विघ्न नहीं, आश्रम-पादप ख़ूब अच्छी दशा में हैं, जल की कमी नहीं, अन्न काफ़ी है, पश्वादिकों का कोई उपद्रव नहीं। आपके राजा होते भला हम लोगों को कभी स्वप्न में भी कष्ट हो सकता है। सूर्य के मध्य आकाश में स्थित रहते मजाल है जो रात्रिसंभूत अंधकार अपना मुँह दिखाने का हौसला करे। रहा मेरे आने का कारण, सो मैं गुरु के लिये आपसे कुछ माँगने आया था। परंतु मैं देर से आया। आपसे माँगने का समय जाता रहा। आपके ये मिट्टी के पात्र इसके प्रमाण हैं। आप प्रसन्न रहें। अब मैं आपसे इस विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। मैं तो मनुष्य हूँ। गुरु की कृपा से चार अक्षर मैंने पढ़े भी हैं। अतएव ऐसे समय में याचना करना मुझे मुनासिब नहीं। सारे संसार को जल-वृष्टि से आप्लावित करके

शरत्काल को प्राप्त होनेवाले रिक्त मेघों को पतंग-योनि में उत्पन्न चातक भी अपनी याचनाओं से तंग नहीं करते।"

राजा ने उत्तर दिया—"अच्छा बतलाइए तो कौन सी चीज़ आप अपने गुरु को देना चाहते हैं और कितनी देना चाहते हैं?"

इसपर कौत्स ने सब हाल कहा। सुनकर राजा बोला—"कुछ चिंता नहीं। आप दो-तीन दिन मेरी अग्निहोत्र-शाला में ठहरिए। मैं आपकी अर्थ-सिद्धि के लिये चेष्टा करूँगा। मेरे पास से आपका विफल-मनोरथ जाना मेरे लिये बड़े ही कलंक की बात होगी। यह मैं नहीं चाहता—यह मुझे असह्य होगा।"

रघु के ख़ज़ाने में कौड़ी न थी। चौदह करोड़ द्रव्य कहाँ से आवे? राजा धर्म-संकट में पड़ा। अंत में उसने कुबेर पर चढ़ाई करके उतना द्रव्य प्राप्त करने का निश्चय किया। उसने अपना शस्त्रास्त्र-पूर्ण रथ सजाया। प्रातःकाल यात्रा करने के इरादे से रात को वह उसी रथ पर सोया। पर उसे प्रस्थान करने की जरूरत नहीं पड़ी। रात ही को उसका ख़ज़ाना अशर्फ़ियों से अकस्मात् भर गया। अतएव उसने वह सब धन कौत्स के सामने लाकर हाज़िर कर दिया। वह चौदह करोड़ से कहीं अधिक था। सवाल था सिर्फ़ १४ करोड़ के लिये, परंतु उतना ही देना रघु के लिये कोई विशेष उदारता की बात न थी। इससे राजा वह सारा का सारा धन कौत्स को देने लगा। परंतु वह मतलब से अधिक क्यों लेता। उसने गिनकर चौदह करोड़ ले लिया। बाक़ी सब वहीं पड़ा रहा। अब बतलाइए उन दोनों में से किसे अधिक प्रशंसा का पात्र समझना चाहिए—दाता रघु को या याचक कौत्स को? रघु की राजधानी साकेत नगरी के निवासियों ने तो उन दोनों को बराबर एक ही सा अभिनंदनीय समझा।

बहुत प्राचीन भारत की यह एक धुँधली सी झलक है। उस ज़माने में विद्वत्ता की कितनी क़दर थी, विद्वान् अपना जीवन किस प्रकार निर्वाह करते थे, वे कहाँ रहते थे, किस तरह रहते थे, और क्या खाते थे, राजा कितने प्रजा-पालक थे, कितने दानी थे, कितने धर्मनिष्ठ थे, प्रजाजन कितने सत्यनिष्ठ और राजाज्ञा को कहाँ तक माननेवाले थे—इनका और इनके सिवा और भी ऐसी ही बातों का अनुमान कालिदास के पूर्वोक्त पद्यों से बहुत अच्छी तरह हो सकता है। हम लोग इस महाकवि के नितांत कृतज्ञ हैं। उसी की कृपा से हमें यह प्राचीन भारत की झलक देखने को मिली है। रामायण और महाभारत के आधार पर कई विद्वानों ने भारत का तत्कालीन इतिहास लिखा है। क्या ही अच्छा हो, यदि कालिदास के ग्रंथों के आश्रय पर भी कोई उस समय की सामाजिक, नैतिक और राजकीय व्यवस्था का एक लेख-चित्र तैयार करने की कृपा करे। इसके लिये सामग्री तो बहुत है। पर हाँ उसका उपयोग करनेवाला अप्राप्य नहीं, तो दुष्प्राप्य ज़रूर है।

यशोदानंदन अखौरी

'इत्यादि' की आत्मकहानी

'इत्यादि की आत्मकहानी' एक सुंदर मनोरंजक एवं हास्यरसपूर्ण कथात्मक निबंध है।

'इत्यादि' का शब्द-समाज में बड़ा संमान है, उसके बिना लेखकों और वक्ताओं की न जाने क्या दुर्दशा होती। 'शब्द का महा अकाल' पड़ने पर उसका जन्म हुआ था। उसकी माता का नाम 'इति' और पिता का नाम 'आदि' है। वह चिर-कुमार है, इससे उसके कोई संतान नहीं हुई (अर्थात् प्रत्ययों के योग से उससे नवीन शब्द नहीं बने)। शब्द-दारिद्र्य के साथ-साथ उसका संमान भी बढ़ता गया है। वह सर्वव्यापक और समदर्शी है। परोपकार और दूसरों की मान-रक्षा उसका धंधा है। यह है 'इत्यादि' का जीवन-चरित।

इसमें संदेह नहीं कि लेखक 'इत्यादि' को तो एक सजीव एवं आकर्षक व्यक्तित्व देने में सफल हुआ ही है; साथ ही 'इत्यादि' के शब्द-पक्ष में भी उसकी जीवन-घटनाओं की पूर्ण सार्थकता ने इस निबंध को और भी अधिक रोचक बना दिया है। हास्य यों तो निबंध में आदि से अंत तक परिव्याप्त है, पर वक्ता और समालोचक के दृष्टांतों में वह विशेष रूप से प्रस्फुटित हुआ है। आधुनिक युग के अल्पज्ञ वक्ताओं और लेखकों की अपने को बड़ा विद्वान् प्रकट करने की प्रवृत्ति के प्रति इसमें मार्मिक व्यंग्य है।

इत्यादि की आत्मकहानी

'शब्द-समाज' में मेरा संमान कुछ कम नहीं है। मेरा इतना आदर है कि वक्ता और लेखक लोग मुझे जबरदस्ती घसीट ले जाते हैं। दिन भर में मेरे पास न जाने कितने बुलावे आते हैं। सभा-सोसायटियों में जाते-आते मुझे नींद भर सोने की भी छुट्टी नहीं मिलती। यदि मैं बिना बुलाए भी कहीं जा पहुँचता हूँ तो भी संमान के साथ स्थान पाता हूँ। सच पूछिए तो 'शब्द-समाज' में यदि मैं (इत्यादि) न रहता, तो लेखकों और वक्ताओं की न जाने क्या दुर्दशा होती। पर हाँ! इतना संमान पाने पर भी किसी ने आज तक मेरे जीवन की कहानी नहीं कही। संसार में जो ज़रा भी काम करता है उसके लिये लेखक लोग ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर पोथे के पोथे रँग डालते हैं, पर मेरे लिये एक सतर भी किसी की लेखनी से आज तक नहीं निकली। पाठक, इसमें एक भेद है।

यदि लेखक लोग सर्वसाधारण पर मेरे गुण प्रकाशित करते तो उनकी योग्यता की कलई जरूर खुल जाती, क्योंकि उनकी

शब्द-दरिद्रता की दशा में मैं ही उनका एकमात्र अवलंब हूँ। अच्छा, तो आज मैं चारों ओर से निराश होकर आप ही अपनी कहानी और गुणावली गाने बैठा हूँ। पाठक, आप मुझे 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनने का दोष न लगावें मैं इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

अपने जन्म का सन्-संवत्-मिती-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं। याद है इतना ही कि जिस समय 'शब्द का महा अकाल' पड़ा था उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता का नाम 'इति' और पिता का नाम 'आदि' है। मेरी माता अविकृत 'अव्यय' घराने की है। मेरे लिये यह थोड़े गौरव की बात नहीं है, क्योंकि भगवान् फणींद्र की कृपा से 'अव्यय' वंशवाले प्रतापी महाराज 'प्रत्यय' के कभी अधीन नहीं हुए। वे सदा स्वाधीनता से विचरते आए हैं।

मैं जब लड़का था तब मेरे माँ बाप ने एक ज्योतिषी से मेरे अदृष्ट का फल पूछा था। उन्होंने कहा था कि यह लड़का विख्यात और परोपकारी होगा, अपने समाज में सबका प्यारा बनेगा, पर दोष है तो इतना ही कि यह कुवाँरा रहेगा। विवाह न होने से इसके बाल-बच्चे न होंगे। यह सुनकर माँ-बाप के मन में पहले तो थोड़ा दुःख हुआ, पर क्या किया जाय? होनहार ही यह था। इसलिये सोच छोड़कर उन्हें संतोष करना पड़ा। उन दोनों ने अपना नाम चिरस्मरणीय करने के लिये (मुझसे ही उनके वंश की इतिश्री थी) मेरा नाम कुछ और नहीं रखा। अपने ही नामों को मिलाकर वे मुझे पुकारने लगे। इससे मैं 'इत्यादि' कहलाया।

पुराने ज़माने में मेरा इतना नाम नहीं था। कारण यह कि एक तो लड़कपन में थोड़े लोगों से मेरी जान-पहचान थी, दूसरे उस समय बुद्धिमानों के बुद्धि-भांडार में शब्दों की दरिद्रता भी न थी। पर जैसे जैसे शब्द-दारिद्र्य बढ़ता गया, वैसे-वैसे मेरा संमान भी बढ़ता गया। आजकल की बात मत पूछिए। आजकल मैं ही मैं हूँ। मेरे समान संमानवाला इस समय मेरे समाज में कदाचित् विरला ही कोई ठहरेगा। आदर की मात्रा के साथ मेरे नाम की संख्या भी बढ़ चली है। आजकल मेरे अनेक नाम हैं—भिन्न-भिन्न भाषाओं के 'शब्द-समाज' में मेरे नाम भिन्न-भिन्न हैं। मेरा पहनावा भी भिन्न-भिन्न है—जैसा देश वैसा ही भेस बनाकर मैं सर्वत्र विचरता हूँ। आप तो जानते ही होंगे कि सर्वेश्वर ने हम 'शब्दों' को सर्वव्यापक बनाया है। इसी से मैं एक ही समय अनेक ठौर काम करता हूँ। इस घड़ी विलायत की पार्लियामेंट महासभा में डटा हूँ, और इसी घड़ी भारत की पंडित-मंडली में भी विराजमान हूँ। जहाँ देखिए वहीं मैं परोपकार के लिये उपस्थित हूँ।

मुझमें यह एक भारी गुण है कि क्या राजा क्या रंक, क्या पंडित क्या मूर्ख, किसी के घर आने-जाने में संकोच नहीं करता और अपनी मानहानि नहीं समझता। अन्य 'शब्दों' में यह गुण नहीं। वे बुलाने पर भी कहीं जाने-आने में बड़ा गर्व करते हैं, बहुत आदर चाहते हैं। जाने पर संमान न पाने से रूठकर उठ भागते हैं। मुझमें यह बात नहीं। इसी से मैं सबको प्यारा हूँ।

परोपकार और दूसरे की मानरक्षा तो मानों मेरा धंधा ही है। यह किए बिना मुझे एक पल भी कल नहीं पड़ती। संसार

जहाँ कहीं भी किसी भी शब्द का अभाव आ सकता है मैं तुरंत सहायतार्थ उपस्थित हो जाता हूँ

में ऐसा कौन है जिसके, अवसर पड़ने पर, मैं काम नहीं आता। निर्धन लोग जैसे भाड़े पर कपड़ा-लत्ता पहनकर बड़े-बड़े समाजों में बड़ाई पाते हैं, कोई उन्हें निर्धन नहीं समझता, वैसे ही मैं भी छोटे-छोटे वक्ताओं और लेखकों की दरिद्रता झटपट दूर कर देता हूँ। अब दो-एक दृष्टांत लीजिए।

वक्ता महाशय वक्तृता देने को उठ खड़े हुए हैं। अपनी पंडिताई दिखाने के लिये सब शास्त्रों की बात थोड़ी बहुत कहना चाहिए। पर शास्त्र का जानना तो अलग रहा उन्हें किसी शास्त्र का पन्ना भी उलटने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इधर उधर से सुनकर दो एक शास्त्रों और शास्त्रकारों का नाम भर जान लिया है। कहने को तो खड़े हुए पर कहें क्या? अब लगे चिंता के समुद्र में डूबने उतराने, और मुँह पर रूमाल दिए खाँसते-खूँसते इधर-उधर ताकने। दो-चार बूँद पानी भी उनके मुख-मंडल पर झलकने लगा। जो मुख-कमल पहले उत्साह-सूर्य की किरणों से खिल उठा था, अब ग्लानि और संकोच का पाला पड़ने से मुरझाने लगा। उनकी ऐसी दशा देख मेरा हृदय दया से उमड़ आया। उस समय मैं, बिना बुलाए, उनकी सहायता के लिये जा खड़ा हुआ और मैंने उनके कानों में चुपके से कहा—"महाशय कुछ पर्वाह नहीं, आपकी मदद के लिये मैं हूँ। आपके जी में जो आवे आरंभ कीजिए; फिर तो मैं सब कुछ निवाह लूँगा।" मेरे ढाढ़स बँधाने पर बेचारे वक्ता जी के जी में जी आया, उनका मन फिर ज्यों का त्यों हरा-भरा हो उठा। थोड़ी देर के लिये जो उनके मुखड़े के आकाश-मंडल में चिंता-चिह्न का बादल देख पड़ा था वह मेरे ढाढ़स के झकोरे से एकबारगी फट गया; और उत्साह का सूर्य

फिर निकल आया। अब लगे वे यों वक्तृता झाड़ने—"महाशयो, मनु इत्यादि धर्मशास्त्रकार, व्यास इत्यादि पुराणकार, कपिल इत्यादि दर्शनकारों ने कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद इत्यादि जिन-जिन दार्शनिक तत्त्वरत्नों को भारत के भांडार में भरा है उन्हें देखकर मैक्समूलर इत्यादि पाश्चात्य पंडित लोग बड़े अचंभे में आकर चुप हो जाते हैं। इत्यादि इत्यादि।"

यहाँ इतना कहने की जुरूरत नहीं कि वक्ता महाशय धर्म-शास्त्रकारों में केवल मनु, पुराणकारों में केवल व्यास, दर्शनकारों में केवल कपिल का नाम भर जानते हैं; और उन्होंने कर्मवाद, पुर्नजन्मवाद का नाम भर सुन लिया है। पर देखिए, मैंने उनकी दरिद्रता दूर कर उन्हें ऊपर से कैसा पहनावा पहनाया कि भीतर के फटे पुराने और मैले चीथड़े को किसी ने नहीं देखा।

और सुनिए—किसी समालोचक महाशय का किसी ग्रंथकार के साथ बहुत दिनों से मनमुटाव चला आता है। जब ग्रंथकार की कोई पुस्तक समालोचना के लिये समालोचक साहब के आगे आई, तब वे बड़े प्रसन्न हुए क्योंकि यह दाँव तो वे बहुत दिनों से ढूँढ़ रहे थे। पुस्तक को बहुत कुछ ध्यान देकर, उलटकर उन्होंने देखा। कहीं किसी प्रकार का विशेष दोष पुस्तक में उन्हें न मिला। दो एक साधारण छापे की भूलें निकलीं। पर इससे तो सर्वसाधारण की तृप्ति नहीं होती। ऐसी दशा में बिचारे समालोचक महाशय के मन में मैं याद आ गया। वे झटपट मेरी शरण आए। फिर क्या है? पौ बारह! उन्होंने उस पुस्तक की यों समालोचना कर डाली—"पुस्तक में जितने दोष हैं उन सबों को दिखाकर हम ग्रंथकार की अयोग्यता का परिचय देना

तथा अपने पत्र का स्थान भरना और पाठकों का समय खोना नहीं चाहते। पर दो एक साधारण दोष हम दिखा देते हैं, जैसे इत्यादि इत्यादि।"

पाठक, देखा ! समालोचक साहब का इस समय मैंने कितना बड़ा काम किया। यदि वह अवसर उनके हाथ से निकल जाता तो वे अपने मनमुटाव का बदला क्यों कर लेते। यह तो हुई बुरी समालोचना की बात। यदि भली समालोचना करने का काम पड़े तो मेरे ही सहारे वे बुरी पुस्तकों की भी ऐसी समालोचना कर डालते हैं कि वह पुस्तक सर्वसाधारण की आँखों में भली भासने लगती है और उसकी माँग चारों ओर से आने लगती है।

कहाँ तक कहूँ। मैं मूर्ख को पंडित बनाता हूँ। जिसे युक्ति नहीं सूझती उसे युक्ति सुझाता हूँ। लेखक को यदि भाव प्रकाशित करने के लिये भाषा नहीं जुटती तो भाषा जुटाता हूँ। कवि को जब उपमा नहीं मिलती, उपमा बताता हूँ। सच पूछिए तो मेरे पहुँचते ही अधूरा विषय भी पूरा हो जाता है। बस क्या इतने से मेरी महिमा प्रकट नहीं होती ?

———

मिश्रबंधु

वीरत्व

इस विचारात्मक निबंध में वीरत्व का सुगम विवेचन है। प्रतिपाद्य विषय का महत्त्व बतलाकर लेखक ने उस पर विभिन्न पक्षों से विचार करते हुए उसका स्वरूप निर्दिष्ट किया है। वाक्य सुगठित, व्यवस्थित और सरल हैं। तद्भव और तत्सम शब्दों का उचित अनुपात में प्रयोग हुआ है, और बीच-बीच में मुहावरों के आ जाने से एकरसता और शुष्कता नहीं आ पाई है। यत्र तत्र अपनी स्थापनाओं को उदाहरणों द्वारा लेखक स्फुट करता गया है जिससे उसका मंतव्य ग्रहण करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

प्रस्तुत निबंध में यह बतलाया गया है कि वीरता के मूल उपादान हैं उत्साह और दृढ़ता। जब वीरता सत्यनिष्ठा, न्यायशीलता और उदारता तथा निःस्वार्थ बुद्धि से अलंकृत होकर खड़ी होती है तब उसके द्वारा जीवन में मंगल का आयोजन होता है।

वीरत्व

वीरत्व संसार में एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्य-शास्त्र में उत्साह ही इसका स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर वरन् कादर भी संमान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्रायः और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं, किंतु जितना आकस्मिक और रोमांचकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसीलिये वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह कीर्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कादरता में तिल-मात्र आकर्षण-शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति-योग्य नहीं है,

कादरता का कोई भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय में कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके।

[वीरत्व को बहुत लोगों ने सामर्थ्य में मिला रक्खा है, किंतु इन दोनों में कोई मुख्य संबंध नहीं है।] सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष बलहीन हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी कि बलवान वीर की। यदि हनुमानजी समुद्र न फलाँग गए होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब माने जाते हैं, किंतु उनके महावीरत्व के चमकानेवाले उदधि-उल्लंघन और द्रोणाचल-आनयन के ही कार्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है।

वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है जिसे इच्छाशक्ति कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छाशक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कादर कभी-कभी पूरे दल की कादरता का कारण हो जाता है।

शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल-तिल कट जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खड़कने से भी भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। यही सब मिलकर इसे जैसा बनाते हैं वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डाँवाडोल होगा उसकी आज्ञा, इच्छा वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल होगी।

जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है उसीकी इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। बिना ऐसी इच्छाशक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसलिये दृढ़ता वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचित कार्य देखकर बिना उसे शुद्ध किए नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलाता है।

वीरत्व का द्वितीय पोषक न्याय है। बिना इसके वीरत्व शुद्ध एवं प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कांति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिये न्याय-शीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान रामचंद्र जी का है। इन्हीं को महाकवि भवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित करके महावीर-चरित्र के नाम से इनकी जीवनी एक नाटक में लिखी है। दंडकारण्य में जिस काल आपने निशिचरों द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थियों का समूह देखा तो तुरंत 'निशिचर-हीन करों महि, भुज उठाय पन कीन्ह'। यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था जो आपने निशाचरों से बिना कोई वैर हुए भी दिखलाया। समय आने पर आपने यह उद्दंड प्रण सत्य करके दिखला दिया।

इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी जो एक बार जाग्रत् होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण-कार्य का संबध है, सो कारण शिथिल होने से कार्य का होना कठिन होता है। कहते ही हैं कि बिना दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि

दृढ़ इच्छा अच्छे व बुरे

की आज्ञा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ कार्यारंभ के विषय में कहा है कि विघ्न-भय से अधम पुरुष किसी शुभ कार्य का प्रारंभ नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग प्रारंभ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते हैं, किंतु उत्तम प्रकृतिवाले हज़ार विघ्नों को दबाकर एक बार का प्रारंभ किया हुआ शुभ कार्य पूरा करके ही छोड़ते हैं।

सत्य का आदर

सत्यनिष्ठा भी शौर्य के लिये एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य-भाषण से बचेगा और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा न करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोकमान्यता के लालच में सिद्धांतों को भंग करते हुए बहुधा देखे गए हैं। सिद्धांत-प्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों द्वारा सिद्धांती माने जाने ही के लिये वे सबसे बड़े सिद्धांतों को हँसते हुए चकनाचूर कर देंगे। जो लोकमान्यता के भय से सिद्धांतों को भंग करने को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है।

वीरत्व का सर्वश्रेष्ठ समय बाल-वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस काल में होता है उतना और किसी समय नहीं होता। श्लाघ्य चरित्रवान मनुष्य को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी न मानेगा। बाल-वय में मन सफ़ेद काग़ज़ की भाँति होता है। इस पर सुगमतापूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्रवालों में वीर-पूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को

श्लाध्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महानीचों को ही संसार में कोई भी श्लाध्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाध्य चरित्र-पूजन की कामना बलवती होती है उसमें वीरता कम से कम बीज-रूप से तो रहती ही है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहाँ वीर-पूजन की रीति चलाई गई हो। बिना दूसरों के गुण ग्रहण किए हुए लोग प्रायः उदारचेता नहीं होते। इसी लिये वीरों में कोमलता और उदारता प्रायः साथ ही साथ पाई जाती है। प्रसन्नचित्तता भी इन्हीं बातों का एक अंग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय मानसिक प्रसन्नता है, दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता ही है। बिना इसके बुराई रुक नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेम-भाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे वह लौटकर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिये जो संसार-प्रेमी होता है उससे सारा संसार प्रेम करता है जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में वह बुराई किसके साथ करेगा।

प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी की खोटाई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं और जब उसके प्रतिफल में हमारे साथ कोई असभ्यता करता है तब हम आत्म-प्रेम में अंध होकर समझ बैठते हैं कि वह अकारण हमारे साथ खोटाई करता है। इसलिये संभावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना ही उचित है और क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिए; क्योंकि बे-जाने हुए भी हमारे द्वारा क्षमापात्र का अपकार हो जाना संभव है। खोटाई और निष्फलता का पहले ही से भय कभी न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको जीत

नहीं सकता। इनको जीतने का सबसे सुगम उपाय आशा ही है। इसीलिए कहा गया है कि आशा न छोड़नेवाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्यवान है।

स्वार्थत्याग वीरता का सबसे बड़ा भूषण है। दास-भाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बंधन में पड़े तो उसके इस कर्तव्य में कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर हनुमान ने जब भगवान का दासत्व ग्रहण किया तब आत्मत्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन-पर्यंत कभी विवाह ही नहीं किया। इधर भगवान ने जिस काल यह देखा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीता-ग्रहण के कारण इन्हें उच्चातिउच्च आदर्श से गिरा समझती है तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धांगिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने प्रजारंजनवाले ऊँचे कर्तव्य को हाथ से जाने दिया। बाल-वय में भी अपने पिता की बेमन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिलमात्र संकोच नहीं किया। अपने यावज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्तव्य-पालन का ऊँचा आदर्श दिखलाया, मानों ये सदेह कर्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य-साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है; किंतु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य से कोई भी संबंध नहीं है। वीरता दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर-कर्म में आ जाती है, चाहे वह तिलमात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष-द्वारा संपादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक जो अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से, बड़े से बड़े विजयी के बराबर है। वीरता के मूल सूत्र कर्तव्य-पालन और स्वार्थ-त्याग हैं। बिना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता।

एक बार दो रेलों के लड़ जाने से एक एंजिन हाँकनेवाला अपने एंजिन में दबकर बायलर में चिपक रहा। वह मृतप्राय था किंतु उसके होश-हवास नहीं गए थे। इसलिए वह जानता था कि बायलर जल्द फटकर उड़ेगा; जब और लोग उसे छुड़ाने के लिए प्रयत्न करने लगे तो उसने उन सबको वहाँ से यह कहकर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहाँ प्राण देने क्यों आए हो, क्योंकि भाप के बल से अभी बायलर फटना चाहता है जिससे सबके प्राण चले जायँगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिए इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

हमारे यहाँ वीर को शूर कहते हैं कि अंधे की भाँति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कायर और स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है उसे उतनी ही अधिक वीरता दिखलानी चाहिए, क्योंकि उसकी वीरता से संसार का बहुत अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सबसे अधिक वीर होना चाहिए। कहा ही है, 'वीरभोग्या वसुंधरा'। फिर भी छोटे-छोटे पुरुषों को भी उच्च सिद्धांतों से तिलमात्र नहीं हटना चाहिए, क्योंकि थोड़ी सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाए बिना नहीं रहती। इसी से कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को थोड़े से अवगुण की भी उपेक्षा न करनी चाहिए नहीं तो थोड़ा सा अवगुण उसमें अवश्य आ जायगा।

———

जैनेंद्रकुमार

आप क्या करते हैं ?

गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म का महत्त्व सबको ज्ञात है पर व्यवहार में वह कहीं दिखाई नहीं देता। समाज के भीतर आदमी अपने पेशे से जाना माना जाता है। पेशे से मतलब है पैसा पैदा करने का पेशा। यदि निष्काम भाव से कोई कुछ करता है तो वह उसका पेशा नहीं माना जाता, क्योंकि उससे पैसा नहीं मिलता। और पैसा पास नहीं तो समाज में कोई प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती। उपार्जन का ढंग चाहे कैसा भी हो पर पैसा पास रहने पर आदमी संभावित-संमान्य और सुयोग्य माना जाता है, और न रहने पर निकम्मा। इस उपयोगिता की कसौटी की आलोचना इस निबंध का प्रतिपाद्य है।

आत्मीयता का वातावरण पूरे निबंध में वर्तमान है। शैली इसकी जैनेंद्र की बिलकुल अपनी है। प्रश्नोत्तर की रोचक शैली में गंभीर समस्याओं का व्यंजनापूर्ण विवेचन इस निबंध की विशेषता है। लेखक का व्यंग-विधान बहुत ही समर्थ हुआ है, जो कहीं शब्द-प्रयोग पर अवलंबित है और कहीं पूरे वाक्य की ध्वनि पर। कहीं-कहीं विनोदमयता लाने के लिए की गई शब्द-क्रीड़ा भी अपने ढंग की अकेली और आकर्षक है। बिन सँवारी भाषा तथा बातचीत वाली शैली के वाक्यविन्यास आत्मीयता और बेतकल्लुफी पैदा करते हैं—ऐसा लगता है मानों जैनेंद्र पाठक के ठीक सामने बैठे अपने खास ढंग से बतकही कर रहे हों। गंभीर समस्याओं की ओर बड़े ही आत्मीय और सरल भाव से पाठक का ध्यान आकृष्ट कर उसे सोचने-विचारने के लिए तैयार कर देना निबंधकार जैनेंद्र का अपना गुण है।

आप क्या करते हैं ?

जब पहले पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं, 'आपका शुभ नाम ?' नाम के बाद अगर आगे बढ़ने की वृत्ति हुई तो पूछते हैं, 'आप क्या करते हैं ?'

'क्या करते हैं ?' इसके जवाब में एक दूसरे को मालूम होता है कि उनमें से एक वकील है, दूसरा डाक्टर है। इसी तरह वे आपस में दूकानदार, मुलाजिम, अध्यापक, इंजीनियर आदि आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरह के प्रश्न के जवाब में मैं हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डाक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक-ठीक ढँक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीमबख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्द के कुछ भी अर्थ होते हों, और 'रहीमबख्श' के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलब से कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही

बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा मेरा संपूर्ण और सच्चा परिचय इन नामों से आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामों के शब्दों के अर्थ तक भी वह परिचय नहीं जाता। क्योंकि, नाम नाम है, यानी, वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिये उस नाम के भीतर संपूर्णता से मैं ही हो गया हूँ।

ख़ैर, वह बात छोड़िए। मुझसे पूछा गया, 'आपका शुभ नाम ?' मैंने बता दिया—'दयाराम'। दया का या और किसी का राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ। पर किसी अतर्क्य पद्धति से मेरे दयाराम हो रहने से उन पूछनेवाले मेरे नये मित्र को मेरे साथ व्यवहार-वर्णन करने में सुभीता हो जाएगा। जहाँ मैं दीखा बड़ी आसानी से पुकारकर वह पूछ लेंगे, 'कहो दयाराम, क्या हाल है ?' और मैं भी बड़ी आसानी से दयाराम के नाम पर हँस-बोलकर उन्हें अपना या इधर-उधर का जो हाल-चाल होगा बता दूँगा।

यहाँ तक तो सब ठीक है। लेकिन, जब यह नये मित्र आगे बढ़कर पूछते हैं, 'भाई, क्या करते हो ?' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? 'क्या करूँ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग आगे बैठा दीखता है। जी होता है, पूछूँ, 'क्या आप बताइएगा, क्या करूँ ?' मैं क्या बताऊँ कि आज यह यह किया।—सबेरे पाँच बजे उठा; छः बजे घूमकर आया; फिर बच्चे को पढ़ाया; फिर अख़बार पढ़ा; फिर बगीचे की क्यारियाँ सींचीं; फिर नहाया, नाश्ता किया,—फिर यह किया, फिर वह किया। इस तरह अब तीन बजे तक

कुछ न कुछ तो मुझसे होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ। अब तीसरे पहर के तीन बजे यह जो मिले हैं नये मित्र, तो इनके सवाल पर क्या मैं इन्हें सवेरे पाँच से अब तीन बजे तक की अपनी सब कारवाइयों का बखान सुना जाऊँ ? लेकिन, शायद यह वह नहीं चाहते। ऐसा मैं करूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदा के लिये वहीं अस्त हो जाय। यदि उनका अभिप्राय वह जानना है जो उनके प्रश्न पूछने के समय मैं कह रहा हूँ, तो साफ है कि मैं उनका प्रश्न सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ। तब क्या यह कह पड़ूँ कि, 'मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ।' नहीं, ऐसा कहना ठीक न होगा। मित्र इससे कुछ समझेंगे तो नहीं, उल्टा बुरा मानेंगे। दयाराम मूर्ख तो हो सकता है पर बुरा होना नहीं चाहता। इसलिये, उस प्रश्न के जवाब में मैं, मूर्ख का मूर्ख, कोरी निगाह से बस उन्हें देखता रह जाता हूँ।—बल्कि, थोड़ा-बहुत और भी अतिरिक्त मूढ़ बनकर लाज में सकुच जाता हूँ। पूछना चाहता हूँ कि, 'कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या करूँ ?—यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ।'

किंतु, यह सौभाग्य की बात है कि मित्र अधिकतर कृपापूर्वक यह जानकर संतुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है। वह नाम अखबारों में कभी कभी छपा भी करता है। इससे, दयाराम होने के बहाने मैं बच जाता हूँ। यह नाम की महिमा है। नहीं तो, दिन में जाने कितनी बार मुझे अपनी मूढ़ता का सामना करना पड़े।

आज अपने भाग्य के व्यंग्य पर मैं बहुत विस्मित हूँ। किस

बड़-भागी पिता ने इस दुर्भागी बेटा का नाम रक्खा था 'दयाराम' उन्हें पा सकूँ तो कहूँ, 'पिता तुम खूब हो ! बेटा तो डूबने ही योग्य था, किंतु तुम्हारे दिए नाम से ही वह भोला चतुर मित्रों से भरे, इस दुनिया के सागर में उतराता हुआ जी रहा है। उसी नाम से वह तर जाय तो तर भी जाय नहीं तो, डूबना ही उसके भाग्य में था। पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो। पिता, मेरे विनीत प्रणाम ले लो। उस प्रणाम की कृतज्ञता के भरोसे ही, उसी के लिये, मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ पिता, नहीं तो मैं एकदम मतिमंद हूँ और जाने क्यों जीने लायक हूँ !'

पर आपसे बात करते समय पिता की बात छोड़ूँ। अपने इस जीवन में मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद करने से आपका क्या लाभ ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनों को आपके लाभ की बात करनी चाहिए।

तो मैंने कहा, 'कृपापूर्वक बताइए, क्या करूँ ? बहुत भटका, पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिए।'

उन नये मित्र ने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गए। मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

उत्तर मिला, 'मैं डाक्टर हूँ।'

सज्जन मित्र ने कहा, 'ओः आप डाक्टर हैं ! बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डाक्टर जी, नमस्ते। खूब दर्शन हुए। कभी मकान पर दर्शन दीजिए न।—जी हाँ, यह लीजिए मेरा कार्ड।'......

रोड पर......कोठी है।—जी हाँ आपकी ही है। पधारिएगा। कृपा कृपा। अच्छा, नमस्ते।'

मुझे इन उद्‌गारों पर बहुत प्रसन्नता हुई। किंतु, मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होने से उन व्यक्ति का डाक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई गलत तो नहीं है!

किंतु, मित्रवर कुछ आगे बढ़ गए थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठीवाले मित्र ने नाम-परिचय के बाद पूछा, 'आप क्या करते हैं?'

'वकील हूँ।'

'ओः वकील हैं! बड़ी प्रसन्नता के समाचार हैं। नमस्ते, वकील साहब नमस्ते। मिलकर भाग्य धन्य हुए। मेरे बहनोई का भतीजा इस साल लॉ फाइनल में है। मेरे लायक खिदमत हो तो बतलाइए। जी हाँ, आप ही की कोठी है। कभी पधारिएगा। अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते नमस्ते।'

इस हर्षोद्‌गार पर मैं प्रसन्न ही हो सकता था। किंतु, मुझे लगा कि बीच मे वकीलता के आ उपस्थित होने के कारण दोनों की मित्रता की राह सुगम हो गई है।

यह तो ठीक है। डाक्टर या वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्ति की मित्रता की पात्रता बढ़ जाय इसमें मुझे क्या आपत्ति? इस संबंध में मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रकट है, और वह इतनी निबिड़ है कि उस बारे में मेरे मन में कोई चिंता ही नहीं रह गई है। लेकिन, मुझे रह-रहकर एक बात पर अचरज होता है। प्रश्न जो पूछा गया था, वह तो

यह था कि, 'आप क्या करते हैं ?' उत्तर में डाक्टर और वकील ने कहा कि वे डाक्टर और वकील हैं। मुझे अब अचरज यह है कि उन प्रश्नकर्ता मित्र ने मुड़कर फिर क्यों नहीं पूछा कि, 'यह तो ठीक है कि आप डाक्टर और वकील हैं। आप डाक्टर रहिए, आप वकील रहिए। लेकिन, कृपया, आप करते क्या हैं ?'

समझ में नहीं आता कि प्रश्नकर्ता मित्र ने अपने प्रश्न को फिर क्यों नहीं दुहराया, लेकिन, मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ ? प्रश्नकर्ता तो मुझ जैसे कमसमझ नहीं रहे होंगे। इसलिये डाक्टर और वकील वाला जवाब पाकर वह असली भेद की बात समझ गए होंगे। लेकिन, वह असली बात क्या है ?

खैर, इन उदाहरणों से काम की सीख लेकर मैं आगे बढ़ा। राह में एक सदभिप्राय सज्जन मिले जिन्होंने पूछा—

'आपका शुभ नाम ?'

'दयाराम ?'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव।'

'जी नहीं, आप करते क्या है ?'

'मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ। पाँच बजे उठा था, छः बजे घूम कर लौटा, फिर……और फिर……।'

लेकिन देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता ही छोड़कर आगे बढ़ गए हैं। पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते। मैंने अपना कपाल ठोंक लिया। यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ। बिलकुल निकम्मा आदमी हूँ। लेकिन, मेरे श्रीवास्तव होने में क्या गलती है ? कोई वकील है, कोई डाक्टर है। मैं वकील

विश्वास

नहीं हूँ, डाक्टर भी नहीं हूँ। लेकिन, मैं श्रीवास्तव तो हूँ। इस बात की तस्दीक दे और दिला सकता हूँ। अखबारवाले 'दयाराम श्रीवास्तव' छापकर मेरा श्रीवास्तव होना मानते हैं। मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझमें है; लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे। और वह मुझे अकाट्य रूप से श्रीवास्तव छोड़ गए हैं। जब यह बात बिलकुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होने की सत्यता को जानकर नये परिचित वैसे ही आश्वस्त क्यों नहीं होते जैसे किसी के वकील या डाक्टर होने की सूचना पर आश्वस्त होते हैं?

'आप क्या करते हैं?'

'मैं डाक्टर हूँ।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं वकील हूँ।'

'तुम क्या करते हो?'

'मैं श्रीवास्तव हूँ।'

मैं श्रीवास्तव तो हूँ ही। इसमें रत्ती भर झूठ नहीं है। फिर, मेरी तरह का जवाब देने पर डाक्टर और वकील भी बेवकूफ क्यों नहीं समझे जाते?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवकूफ, नहीं हैं यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तब फिर उनके वकील होने से भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवकूफ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ।

'मूर्ख!' एक सद्गुरु ने कहा, 'तू कुछ नहीं समझता। अरे,

डाक्टर डाक्टरी करता है वकील वकालत करता है। तू क्या श्रीवास्तवी करता है ?'

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी 'श्री' की कोई 'वास्तवी' नहीं करता। लेकिन सद्गुरु के ज्ञान से मुझमें बोध नहीं जागा। मैंने कहा, 'जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ। लेकिन, वह वकालत क्या है, जिसको वकील करता है ? और वह डाक्टरी क्या है जिसको डाक्टर करता है ?'

'अरे मूढ़ !' उन्होंने कहा, 'तू यह भी नहीं जानता ! अदालत जानता है कि नहीं ? अस्पताल जानता है कि नहीं ?'

'हाँ', मैंने कहा, 'वह तो जानता हूँ।'

'तो बस' गुरु ने कहा, 'अदालत में वकील वकालत करता है। अस्पताल में डाक्टर डाक्टरी करता है।'

'अजी, तो वकालत को वह 'करता' क्या है ! जैसे मैं खाना खाता हूँ, यानी खाने को मैं खा लेता हूँ, वैसे वह वकालत को क्या करता है ?'

'अरे तू है मूढ़ !' उन्होंने कहा, 'सुन, वह अदालत के हाकिम से बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, कानूनी बात निकालता है। कानून में फँसे लोगों की वही तो सार-सँभाल करता है।'

'तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है। कानून की बात निकालता है, उसके सताए आदमियों की मदद करता है। लेकिन आप तो कहते थे कि वह 'वकालत करता है।' वकालत में बात ही तो करता है ! फिर, वकालत कहाँ हुई ?—बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी ?'

उन्होंने झल्लाकर कहा, 'अरे, इस सब काम को ही वकालत कहते हैं।'

'तो वकालत करना, बात करना है। मैं तो सोचता था, न जाने वह क्या है। अच्छा जी वकालत को करके वह क्या करता है?—याने, अदालत में वह बहुत बातें करता है। उन बातों को करके भी वह, क्या करता है?'

उन्होंने कहा, 'रे मतिमंद, तू कुछ नहीं जानता है। बातों ही का तो काम है। बात बिना क्या? वकील के बातों के ही तो पैसे हैं। उन बातों से वह जीता है, और फिर उन्हीं से बड़ा आदमी बनता है।'

उन बातों को करके वह बड़ा आदमी बनता है,—'अब मैं समझ गया, जी। लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न?—क्यों जी? मैं दिन भर सच झूठ बात करूँ तो, मैं भी बड़ा हो जाऊँ? और बड़ा न होऊँ, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा?'

उन्होंने कहा, 'तू मूढ़ है। बड़ा तू क्या होगा? तू आदमी भी नहीं है।'

'लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ। अब कर रहा हूँ कि नहीं? लेकिन, फिर भी मैं अपने को निकम्मा लगता हूँ। ऐसा क्यों है?'

'अरे तू मतलब की, काम की बात जो नहीं करता है!'

'अजी, तो बात करने का काम तो करता हूँ! यह कम मतलब है?'

वह बोले, 'अच्छा, जा जा, सिर न खा। तू गधा है।'

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ। चाहूँ तो भी नहीं हो सकता। गधे की तरह सींग तो अगरचे मेरे भी नहीं हैं, लेकिन, इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होने पर भी गधा मैं नहीं हूँ। मैं तो दयाराम हूँ। कोई गधा दयाराम होता है? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—कोई गधा श्रीवास्तव होता है? वकील डाक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत—डाक्टरी से अधिक सचाई के साथ हूँ। इसलिये, उन गुरुजन के पास से मैं चुपचाप भले आदमी की भाँति सिर झुकाकर चला आया।

लेकिन, दुनिया में वकील-डाक्टर ही सब नहीं हैं। यों तो इस दुनिया में हम-जैसे लोग भी हैं जिनके पास बताने को या तो अपना नाम है या बहुत से बहुत कुल-गोत्र का परिचय है! इसके अलावा जिन्होंने, इस दुनिया में कुछ भी अर्जित नहीं किया है, ऐसे अपने-जैसे लोगों की तो इनमें गिनती क्या कीजिए! पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं। अधिकतर लोग संभ्रांत हैं, गणनीय हैं, और उनके पास बताने को काफी कुछ रहता है।

'आप क्या करते हैं?'

'बैंकर हूँ।—जी हाँ, साहूकार।'

'आप क्या करते हैं?'

'कारोबार होता है। बंबई, कलकत्ता, हाँगकाँग में हमारे दफ्तर हैं।'

'आप क्या करते हैं?'

'मैं एम० ए० पास हूँ।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं एम० एल० ए० हूँ—लाट साहब की कौंसिल का मेंबर।'

'आप क्या करते हैं ?'

'ओः ! आप नहीं जानते हैं ! हुँः, हुँः हुँः राजा चंद्रचूड़सिंह मुझे ही कहते हैं। गोपालपूर,—८६ लाख की स्टेट, जी हाँ, आपकी ही है।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मुझ राजकवि से आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ।'

'कविता ! उसका क्या करते हैं ?'

'श्रीमान्, मैं कविता करता हूँ। मैं उसीको कर देता हूँ, साहब। और क्या करूँगा ?'

अत्यंत हर्ष के समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत कुछ करते हैं और लगभग सब लोग कुछ न कुछ करते हैं। लेकिन, मेरी समझ में न बहुत आता है न कुछ आता है।

दूकान पर बैठे रहना, गाहक से मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी जेब से पैसे कुछ अधिक ले लेना और अपनी दूकान से सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापार का यही तो 'करना' है ! इसमें 'किया' क्या गया ?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया ? कस कर कमाई जो की गई है ! एक साल में तीन लाख का मुनाफा हुआ है,—आपको कुछ पता भी है ! और आप कहते हैं किया नहीं गया !

लेकिन दयाराम सच कहता है कि, दो रोज के भूखे अपने समूचे तन को और मन को लेकर भी, उन तीन लाख मुनाफे वालों का काम उसे समझ में नहीं आता है।

और साहूकार रुपया दे देता है और व्याज सँभलवा लेता है।—देता है उसी इकट्ठे हुए व्याज में से। देता कम है, लेता ज्यादा है। इससे वह साहूकार होता जाता है, और मोटा होता जाता है।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम,—तो क्या हम यह कहेंगे कि उसने काम कम किया ? क्यों ? उसने तो देने का काम खूब किया है ! लेकिन, इस तरह एक दिन आएगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियों की गिनती में आ जाएगा।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ ? खूब करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकता है तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने आपमें कुछ 'काम' नहीं है।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास,—ये सब जो जो भी हैं क्या वह वह मेरे अपने श्रीवास्तव होने से अधिक हैं ? मैं श्रीवास्तव होने के लिये कुछ नहीं करता हूँ। बस, यह करता हूँ कि अपने बाप का बेटा बना रहता हूँ। तब, इन लोगों में, इनकी उपाधियों से, अपने आपमें कौन-सा 'काम करना' गर्भित हो गया,—यह मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता है।

मैं भी बात करता हूँ, और कभी कभी तो बहुत ही बढ़िया बात करता हूँ;—सच, आप दयाराम को झूठा न समझेंगे ! काम-बेकाम की बातें लिखता भी हूँ; अपने घर में ऐसा बैठता हूँ जैसे कौंसिलर कौंसिल में बैठता है; बच्चों पर नवाब बना हुकूमत भी चलाता हूँ;—लेकिन, यह सब करके भी मैं बड़ी आसानी से छोटा आदमी और निकम्मा आदमी बना हुआ हूँ। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं होती।

फिर बड़ा आदमीपन क्या ? और वह है क्या जिसे 'काम' कहते हैं ?

४ एक किताब है, गीता। ऊपर के तमाम स-'काम' आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े 'काम' की किताब है। मूढ़-मति क्या उसे समझूँ। यह एक दिन साहस-पूर्वक उठाकर जो उसे खोलता हूँ, तो देखा, लिखा है, 'कर्म करो। कर्म में अकर्म करो।'

यह क्या बात हुई। करना अकर्म है, तो वह कर्म में क्यों किया जाय ? और जब वह किया गया तो 'अकर्म' कैसे रह गया ? जो किया जायगा वह तो कर्म है, उस कर्म को करते-करते भी उसमें 'अ-कर्म' कैसे साधा जाय ? और गीता कहती है,— उस अकर्म को साधना ही एक कर्म है,—वह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझ में क्या आवे ! दुनिया तो कर्म-युतों की है। आप कर्मण्य हैं—आप धन्य हैं। तब क्या कृपाकर मुझ दयाराम को भी अपने कर्म का भेद बताएँगे ?

• *श्यामसुंदरदास*

कला का विवेचन

स्वर्गीय डा० श्यामसुंदरदास हिंदी के उन महान् उन्नायकों में अग्रणी हैं जिन्होंने हिंदी साहित्य के बहुमुखी अभावों की पूर्ति करके उसे एक समुन्नत आधुनिक भाषाओं के समकक्ष प्रतिष्ठित करने का स्तुत्य प्रयास किया है। प्रस्तुत निबंध में उन्होंने पाश्चात्य दृष्टि से कला और उसके विभिन्न विभागों पर विचार किया है। प्रकृति के समान मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी उपयोगिता तथा सुंदरता ये दो तत्त्व पाए जाते हैं। इसी आधार पर कला के दो भेद किए गए हैं—उपयोगी एवं ललित। ललित-कलाओं के भी पाँच विभेद हैं—वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला एवं काव्य-कला। मूर्त आधार की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता तथा मानसिक तत्त्व की प्रधानता के कारण इनका महत्त्व क्रमशः अधिक से अधिकतर होता जाता है। मूर्त आधार के सर्वथा अभाव के कारण काव्य का स्थान ललित-कलाओं में सबसे ऊँचा है।

क्लिष्ट समासबहुल पदावली से रहित प्रौढ़ भाषा, सुव्यवस्थित वाक्य विन्यास, विषय की गंभीरता, शैली की सुबोधता, असंबद्धता और शिथिलता का अभाव तथा विचार-शृंखला की धारावाहिकता इस निबंध की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं।

कलाओं के द्वारा सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा करते हैं अथवा आत्मिक विकास करते हैं।

कलाकार भावों व विचारों को ग्रहण कर सकें जिससे हृदय का परिष्कार हो सके।

कला का विवेचन

सृष्टि की उपयोगिता और सुंदरता

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी-न-किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह संभव है कि बहुत-सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों, पर ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौंदर्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य पाते हैं। इससे यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता एवं कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एक के अस्तित्व से ही दूसरे

जो एक दूसरे पर निर्भर हों।

का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुंदरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुंदरता पाते हैं। एक झोपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोपड़ी सुंदरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ-ही-साथ उसमें सुंदरता भी आ जाती है।

कला और उसके विभाग

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुंदरता आती है उसकी 'कला' संज्ञा है। [illegible] के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित-कला। [illegible]पयोगी में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के [illegible] व्यवसाय संमिलित हैं। ललित-कला के अंतर्गत वास्तु-कला, [illegible] कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच [illegible]-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य [illegible] [illegible]श्य-कताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् [illegible]-कला[illegible] [illegible]ओं के द्वारा उसके अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है [illegible] [illegible] उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इत[illegible] [illegible] एक का संबंध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक [illegible] और दूसरी का उसके मानसिक विकास से। [illegible]

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुंदर भी हो, परंतु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुंदर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत-से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुंदर भी हैं; अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अंतर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुंदर होने में संदेह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिए मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ-ही-साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुंदरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किए उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता वह सुंदर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोग अपनी-अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुंदरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सबका मन एक-सा संस्कृत नहीं होता।

ललित-कलाओं का आधार

ललित-कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के संनिकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान

करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेंद्रिय के संनिकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा[1]। पहली कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित-कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च-कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है, और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार का विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है; परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड

---

१ काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से उसकी उपलब्धि होती अवश्य है, पर उसमें दृश्यता प्रधान है। शकुंतला को सामने देख और उसके मुख से उसका वक्तव्य सुन, दोनों के योग से हृदय में जिस आनंद का अनुभव होता है, वह केवल पुस्तक में लिखा हुआ उसका वक्तव्य सुनकर नहीं होता।

या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त-आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है, परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिए लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है। मुटाई तो चित्र में नाम-मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप, रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद-परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न-भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता; पर शब्द की

कला का विवेचन

रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित-कलाओं के आधार-तत्त्व

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित-कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी-न-किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का संनिकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और कर्णेंद्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचाकर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखने वाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित-कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते

हैं कि ललित-कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित-कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार; (२) वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है; (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं। ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप, रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। (यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिच्छाया प्रस्तुत रहती है।) किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं

कि यह मंदिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिंदू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न-भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुंबज मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों, अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हो या न हो।

मूर्ति-कला

मूर्ति-कला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार काट-छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अंतर्हित रहते हैं। वह सब कुछ अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परंतु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिए वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता

है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में जीवधारियों की प्रतिच्छाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुंदरता को प्रकाशित करना है।

चित्र-कला

चित्र-कला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्र-पट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश या कलम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप-रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परंतु मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिए अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रुश या कलम से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देख-कर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु-सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य को सजी-वता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के समाने खड़ा करने के लिए, अपना ब्रुश चलाना और परोक्ष रूप

से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक उन कलाओं के संबंध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित-कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्ति आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत-कला

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनंत समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार हैं। वे ही संगीत-कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न

कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत कर के उन्मत्त बना सकता है, शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है। परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न-भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की घड़घड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें तो यह बात संगीत-कला के बाहर है। संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो पाई। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यंत आवश्यक है। वह यह कि संगीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

काव्य-कला

ललित-कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों

के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेंद्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिए किसी दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिनका कवि उपयोग करता है।

ललित-कलाओं का ज्ञान

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत् अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से, और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस समय जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का अर्थात मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है उन सबका, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुंदर बगीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं

देखा था, अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का संमिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संबंध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका संबंध मेरे पूर्वसंचित अनुभवों या मेरी कल्पना-शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यंत अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलंबित नहीं; इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी संमिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना-शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने-अपने अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों, चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सबसे सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव-हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।

काव्य-कला की विशेषता

हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके हैं कि किस

ललित-कला में कितना मूर्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि काव्य-कला को छोड़कर शेष चारों ललित-कलाएँ बाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला आंतरिक ज्ञान पर पूर्णतया अवलंबित रहती है। अतएव काव्य का संबंध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण देकर इस भाव को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अंकित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब उस चित्र में मुझे देखने को मिलता है। मैं उस चित्र में सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफसरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित होकर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का पूरा विवरण मेरे संमुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी,

उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजय-कामना से कैसी रणनीति का अवलंबन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ और अंत में उस युद्ध में लड़नेवाली दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भविष्य-जीवन पर क्या प्रभाव डाला। परंतु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे संमुख उपस्थित करने में इतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक मुझे पूरा-पूरा प्रभावित करता है जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परंतु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरण-शक्ति से उसे अपने अंतःकरण के संमुख उपस्थित कर सकता हूँ। (अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है।) इसका कारण यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और बाह्य ज्ञान पर अवलंबित है, परंतु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अंतर्ज्ञान पर अवलंबित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि 'मैंने लड़ाई देखी' पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि 'मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया' या 'उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।'

(इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों

साहित्य की परिभाषा

की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार कह सकते हैं, जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव-सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उन सबका बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन के लिए यह भांडार कितना प्रयोजनीय है।

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्त्व

जिसमें अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ ... ।

मनुष्य के काव्य रूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बड़े महत्त्व की वस्तु हैं। बिना उसके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें न होतीं तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भवभूति, भारवि, भगवान बुद्धदेव, मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचंद्र आदि से कैसे बात-चीत करते, उनके कीर्ति-कलाप का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरण से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत और महत्त्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते।

काव्य का महत्त्व

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनंद प्राप्त करें तथा उसके मर्म को समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य रूप को पूरा-पूरा समझने में समर्थ करती है।

अध्ययन या मनन

काव्य को हम मानव-जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अन्तःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को, अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और इसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नए अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जातिविशेष का मस्तिष्क या अंत:करण है जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेंद्रियों के सब संदेश बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य के बिना, पूर्वसंचित ज्ञान-भांडार के बिना, मानव-जीवन पशु-जीवन के समान होता। उसमें वह विशेषता ही न रह जाती जिसके कारण मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

—

पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

बुढ़ापा

इस निबंध में बुढ़ापे का जो रूप खड़ा किया गया है वह देखने ही योग्य है। वृद्धावस्था के प्रतिकूलवेदनीय पक्ष का उद्‌घाटन इसमें बड़ी भावाकुलता के साथ किया गया है। बेचारे जायसी ने बुढ़ापे के दिनों में दीर्घायु होने का आशीर्वाद देनेवाले को कोसा था, पर उस कोसने में भी वार्धक्य की शिथिलता है। उग्र-प्रकृति 'उग्र' जवानी में ही बुढ़ापे की हाहाकारमयी संवेदना प्रस्तुत करते हैं, शायद इसीलिए उसमें व्याकुल वेग-मयता भरी हुई है। बुढ़ापे की इस खीझ में पूरी गरमी है। इस निबंध की विशेषता यह है कि इसमें कुछ नाटकीय प्रसंगों का आभास देकर खीझ-भरे, अशक्त और निराश वार्धक्य का चित्र भी खींचा गया है और हार्दिक भावों की प्रगल्भ व्यंजना भी की गई है। लेखक का व्यक्तित्व पंक्ति-पंक्ति में व्यक्त हुआ है। भाषा इस निबंध की व्यावहारिक और सजीव है। वाक्यों की पद-योजना ऐसी अच्छी है कि भावावेश को क्रमशः बढ़ती हुई तीव्रता तक मार्मिक ढंग से व्यंजित होती चलती है।

बुढ़ापा

१

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूलकर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूटकर रो रही है। उस 'खोने' में दुःख नहीं, सुख था, सुख ही नहीं, स्वर्ग भी था। इस 'पाने' में सुख नहीं दुःख है, दुःख ही नहीं नरक भी है! लड़कपन का खोना—वाह! वाह!! बुढ़ापे का पाना—हाय! हाय!!

लड़कपन स्वर्ग-दुर्लभ सरलता से कहता था—'मैया, मैं तो चंद्र-खिलौना लैहौं।' जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी 'दौर में सागिर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।' और, 'अंगं गलितं पलितं मुंडम्' वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्यग्र होकर, कहता है—'अब मैं नाच्यौं बहुत गोपाल!'

कौन कहता है जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा हा हा हा है? यह सब सुफैद झूठ है, कोरी कल्पना है, प्रवंचना है।

मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लंबे-लंबे दिनों और लंबी-लंबी रातोंवाले एक, दो, दस, बीस नहीं—साठ वर्षों से पूछो, मेरे कटु अनुभव से पूछो। मेरी झुर्री से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों और जवानों को, बतलाएँगे कि जीवन का अर्थ 'वाह' नहीं, 'आह' है; हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है!

लड़कपन ने पंद्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया? जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक, कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया?—वार्धक्य—के लिफाफे में सर्वनाश, पतन! और—और अब यह बुढ़ापा घंटों नाक दबाकर ईश्वर-भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त-होकर खननन का खज़ाना इकट्ठा कर, बेटों की 'बटालियन' और बेटियों की 'बैटरी' तैयार कर कौन सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा?—वही सर्वनाश, वही पतन! मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोंककर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है, 'प...त...न!'

रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर सुशोभित दिन-मणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुंदरी-उषा से होली खेल-खेलकर गंगा की बेला को, तरंगों को मंद मलयानिल को, नीलांबर को, दशों दिशाओं को और भगवती प्राची के अंचल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी उसी रंग में रँगकर वही नाच

नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर... मगर ?

रोज़ की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्छित दिन-मणि कैसा अप्रसन्न, कैसा निर्जीव रहता है। वह गुलाबी लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ—कंपित करों वाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं! श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की घोर तपस्या, इस दान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन! उस पार—क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास—पतित सूर्य की रक्त--चिता जलती है। माथे पर सायंकाल रूपी काल चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिन बहिन पश्चिमा 'आग' देती है। दिशाएँ व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती रहती हैं। प्रकृति में भयानक गंभीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनंत ओतप्रोत रहता है!

उस समय देखनेवाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञात होता है कि जीवन का असली अर्थ और कुछ नहीं, केवल सर्वनाश है।

२

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखनेवालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की। बातों के दायरे से आगे बढ़ने वालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सरल है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई

बड़ी बात नहीं। पर पतन और सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना केवल दुरूह ही नहीं, असंभव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था कि कुछ दुष्ट लड़कों की नजर मुझ पर पड़ी। उनमें से एक ने कहा—"हट जाओ, हट जाओ! हनुमानगढ़ी से भागकर यह जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पाई है। पूरा किष्किंधावासी मालूम पड़ता है।"

बस; बात लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बंदर हो जाता है? इतना अपमान? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा? झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधी कर मैंने उन लड़कों से कहा-"नालायक़ो! आज कमर झुक गई है। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गए हैं। आज, दुनिया की तसवीरें भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही है मगर, हमेशा यही हालत नहीं थी।

"अभी छोकरे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्तनशील है। तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक अगर जीता रहा तो, जवान होता है और प्रत्येक जवान, अगर जल्द ख़तम न हो गया तो एक न एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथ, बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं, यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उनपर करने लगे, तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते ही मार डाले जायँ। लड़के होश सँभालते ही अपना

पेट पालने के लिए, घर से बाहर निकाल दिए जायँ। संसार से दादा के माल पर फ़ातेहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।

अब भी सौ में निन्यानबे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हज़ार में नौ सौ साढ़े निन्यानबे शौकीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी शीशा, ओटो, लवेंडर, सोप, पाउडर, पालिश और शराब की बोतलों के पैसे बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से निकलते हैं। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देनेवाला कमज़ोर हृदय-वाला बुढ़ापा ही है, बेवकूफ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं...

फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों? बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों?"

मगर, उन लड़कों के कान तक मेरी दोहाई को पहुँच न हो सकी। सबने, एक स्वर से ताली बजा-बजाकर, मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

लड़के हू-हू हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुंदर स्वप्न की याद आ गई जो मैंने आज से युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के संमेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न।

३

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनिया मेरी हालत पर हँसे या जो

करे—कोई चिंता नहीं। कोई खिलाड़ी हो तो सामने आवे। मैं खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सुफ़ैद बाल हों, झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन् के हजार-हजार रुपये लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पासे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर, जवानी लेने को राजी हूँ। कोई हकीम हो तो सामने आवे, उसे निहाल कर दूँगा; मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ—जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँहमाँगा दूँगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूँगा; मालामाल कर दूँगा।

हर साल वसंत आता है। बूढ़े से बूढ़ा रसाल भी माथे पर मौर धारण कर, ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ-संपन्न शीतल समीर मंद-गति में प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर 'कुहू-कुहू' करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब-नवयुवक उन्माद की सरिता में सब कुछ भूलकर, विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते दुनिया के पतन को उत्थान का, और सर्वनाश को मंगल का जामा पहिनाते हैं। और मैं—टका सा मुँह लिए कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकुर-टुकुर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है?

हर साल मतवाली वर्षा आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनंद और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन मुग्ध होकर लोट-पोट हो जाता है—'काले मेघा पानी दे!' जवानी पगली होकर गाने लगती है—'आई कारी बदरिया ना!' और मेरा बुढ़ापा? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख-भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता-खखारता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता हूँ। सामने की परोसी हुई थाली भी हम—अपने दुर्भाग्य के कारण—नहीं खा सकते! तड़फ-तड़फ कर रह जाते हैं; उफ!

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है।

इस नरक से कोई मुझे बाहर कर दे, युवक बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है—हाँ-हाँ, करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझसे पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्तभोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

कोई यदु हो तो इस बूढ़े ययाति की सहायता करे, मैं मरने के पहले एक बार फिर उन आँखों को चाहता हूँ, जिन्हें बात बात में उलझने, लगने, चार होने और फँसने का स्वर्गीय रोग होता है। इच्छा है एक बार किसी के प्रेम में फँसकर गाऊँ—

> ठाढ़े रहे घनश्याम उतै, इत
> मैं पुनि आनि अटा चढ़ि झाँकी
> जानति हौ तुम हू ब्रजरीति
> न प्रीति रहै कबहूँ पल ढाँकी

'ठाकुर' कैसेहू भूतल नाहिनै
ऐसी श्ररी का बिलोकनि बाँकी
भावत ना छिन मौन को बैठिबो
घूँघट कौन को ? लाज कहाँ की ?

इच्छा है, एक बार फिर किसी मनमोहन को हृदयदान देकर, बैठे बिठाए, दुनिया की दृष्टि में व्यर्थ, परंतु स्वर्गीय पागलपन को सिर चढ़ाकर, प्रार्थना करूँ—

रोज न आइये जौ मनमोहन,
तौ यह नेक मतौ सुन लीजिए
प्रान हमारे तुम्हारे अधीन
तुम्हें बिन देखे सु कैसे के जीजिए
'ठाकुर" लालन प्यारे सुनौ
बिनती इतनी पै अहो चित दीजिए
दूसरे, तीसरे, पाँचवें, सातवें,
आठवें तो भला आइबो कीजिए

४

बुढापा / मगर, नहीं। वार्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके यह मर्ज ही ला-इलाज है।। यह दर्द-सर ऐसा है कि, सर जाए तो जाए, पर दर्द न जाए ।।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है, जिसका उत्थान केवल एक बार

होता है--और वह होता है—दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोयं'—यदि वैद्य है तो एक--'नारायणो हरिः'।

फिर अब देर काहे की, प्रभो ? क्या करें। 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेह-शून्य है, गुणरहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र नाश करो। पंचतत्त्व में लय करो।

फिर से नए सिरे से, निर्माण हो ; फिर से, नए सिरे से, सृष्टि हो ; फिर से, नए सिरे से, जन्म हो ; फिर से, नए सिरे से, शैशव हो ; फिर से, नए सिरे से, यौवन हो; फिर से, भोग हो ; विलास हो ; प्रेम हो ; पागलपन हो ; मान में अपमान और अपमान में मान हो। फिर से, नए सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी-सुरा ऐसी छने—ऐसी छने कि लोक भूल जाय, परलोक भूल जाय, भय भूल जाय, शोक भूल जाय, वह भूल जाय, हम भूल जायँ, और तुम ईश्वर भूल जाओ। तब जीवन को सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो।

सच्ची वीरता

किसी लेखक का संमान उसकी रचनाओं के परिमाण से नहीं, गुण से होता है, प्रस्तुत निबंध का लेखक इसका उदाहरण है। हिंदी-निबंधों का कोई संग्रह सरदार पूर्णसिंह के निबंध के अभाव में आज अपूर्ण ही है।

इस निबंध में लेखक ने वीरता का सच्चा स्वरूप प्रकट किया है। अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए उसने अनेक कथात्मक दृष्टांत उद्धृत किए हैं। यह उसकी शैली की एक प्रमुख विशेषता है। लेखक के मत से आत्मिक शक्ति ही सच्ची वीरता है; उसका विकास युद्ध, प्रेम, आध्यात्मिकता आदि अनेक क्षेत्रों में हो सकता है। निबंध के अंत में आधुनिक अखबारी वीरों के प्रति चुभता हुआ व्यंग्य है।

सशक्त और ओजपूर्ण भाषा इस निबंध की सबसे बड़ी विशेषता है। इसमें जोशीले भाषण की प्रभावात्मकता है। कथा-तत्त्व, भावात्मकता तथा विचारों के सुंदर संमिश्रण ने इस उत्कृष्ट निबंध को साहित्य की एक अमर कृति बना दिया है।

सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गंभीर और आज़ाद होते हैं। उनके मन की गंभीरता और शांति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चंचल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकिजी ने कुंभकर्ण की गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिह्न दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। वे सत्त्वगुण के क्षार-समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे. परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज़ की गूँज सुनाई देती रहती है, और सब आवाज़ें बंद हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मदमत्त करती है। कभी किसी

की और कभी किसी की प्राण-सारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो हरा की कंदरा में एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नींद सोता है। जैसे गली में पड़े हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही आम आदमियों की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदारहृदया धन-संपन्न स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की-सी है। पर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे संसार में अज्ञात उस गुलाम की बारी आई। उसकी निद्रा खुली। संसार पर मानों हज़ारों बिजलियाँ गिरीं। अरब के रेगिस्तान में बारूद की-सी भड़क उठी। उसी वीर की आँखों की ज्वाला इंद्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात और गुप्त हरा की कंदरा में सोनेवाले ने एक आवाज़ दी। सारी पृथ्वी भय से काँपने लगी। हाँ, जब पैग़ंबर मुहम्मद ने 'अल्लाहो अकबर' का गीत गाया तब कुल संसार चुप हो गया। और कुछ देर बाद, प्रकृति उसकी आवाज़ की गूंज को सब दिशाओं में ले उड़ी। पक्षी 'अल्लाह' गाने लगे और मुहम्मद के पैग़ाम को इधर-उधर ले उड़े। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पड़े और नदियाँ 'अल्लाह, अल्लाह' का आलाप करती हुई पर्वतों से निकल पड़ीं। जो लोग उसके सामने आए वे उसके दास बन गए। चंद्र और सूर्य ने बारी-बारी से उठकर सलाम किया। उस वीर का बल देखिए कि सदियों के बाद भी संसार के लोगों का बहुत-सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे-से जीवन को अति तुच्छ समझकर उस अनदेखे और अज्ञात पुरुष

के, केवल सुने-सुनाए, नाम पर कुर्बान हो जाना अपने जीवन का सबसे उत्तम फल समझता है।

सत्त्वगुण के समुद्र में जिनका अंतःकरण निमग्न हो गया वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिए संसार के सब अगम्य मार्ग साफ़ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राज तिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क-बर्क सिंहासन पर बैठनेवाले दुनिया के राजाओं को तो, जो ग़रीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये जरी, मख़-मल और जेवरों से लदे हुए माँस के पुतले तो हरदम काँपते रहते हैं। इंद्र के समान ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे 'जॉर्ज' बड़े कायर होते हैं। क्यों न हों, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओं के बल की दौड़ लोगों के शरीर तक है। हाँ, जब कभी किसी अकबर का राज लोगों के दिलों पर होता है तब इन कायरों की बस्ती में मानों एक सच्चा वीर पैदा होता है।

एक बाग़ी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम क़ैदी दिल से आज़ाद था। बादशाह ने कहा—मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो? गुलाम बोला—"हाँ, मैं फाँसी पर तो चढ़ जाऊँगा, पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।" बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों

के बल की हद दिखला दी। सच! इतने ही जोर, इतनी ही शेखी पर ये झूठे राजा शरीर को दुःख देते और मार-पीटकर अनजान लोगों को डराते हैं। भोले लोग उनसे डरते रहते हैं। चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केंद्र समझते हैं; इसलिए जहाँ किसी ने उनके शरीर पर ज़रा ज़ोर से हाथ लगाया वहीं वे मारे डर के अधमरे हो जाते हैं; केवल शरीर-रक्षा के निमित्त ये लोग इन राजाओं की ऊपरी मन से पूजा करते हैं। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार! जिनका बल शरीर को ज़रा-सी रस्सी से लटकाकर मार देने भर ही का है, भला, उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुक़ाबला जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पँखड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के ज़ोर से लोगों के दिलों को सदा के लिए बाँध देते हैं। दिल्ली पर हुकूमत करनेवाली फ़ौज, तोप, बंदूक आदि के बिना ही वे शाहंशाह-ज़माना होते हैं। मंसूर ने अपनी मौज में आकर कहा—"मैं खुदा हूँ।" दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह क़ाफ़िर है।" मगर मंसूर ने अपने क़लाम को बंद न किया। पत्थर मार-मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की; परंतु उस मर्द के हर बाल से ये ही शब्द निकले—"अनलहक़"—"अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ही ब्रह्म हूँ।" शूली पर चढ़ना मंसूर के लिए सिर्फ़ खेल था। बादशाह ने समझा कि मंसूर मारा गया।

शम्स तबरेज़ को भी ऐसा ही काफ़िर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो। शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दर्वाज़े पर आए हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझ कर, वह खाल खाने के लिए दे दी। देकर वह अपनी यह ग़ज़ल बराबर गाता रहा—"भीख माँगनेवाला तेरे दर्वाज़े पर

आया है ; ऐ शाहे दिल! कुछ इसको दे दो।" खाल उतारकर फेंक दी! वाह रे सत्पुरुष!

भगवान् शंकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोड़े सामने आकर खड़ा हुआ। भगवान् ने कहा—"माँग, क्या माँगता है?" उसने कहा—"हे भगवान्, आजकल के राजा बड़े कंगाल हैं। उनसे अब हमें दान नहीं मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और सबसे बड़े दानी हैं, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ। आप कृपा करके मुझे अपना सिर दान करें जिसकी भेंट चढ़ाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।" भगवान् ने मौज में आकर कहा—"अच्छा, कल यह सिर उतारकर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दर्बार में आए। वे लोग रोजगार की तलाश में थे। अकबर ने कहा—"अपनी-अपनी वीरता का सुबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला क्या सुबूत देते? परंतु दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड़ गए और वहीं राजा के सामने क्षण भर में अपने खून में ढेर हो गए।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा, माल, धन का दान नहीं दिया करते। जब ये दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं। बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिसमें मृग बच जाय, बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय। ऐसे लोग कभी बड़े मौक़ों का इंतज़ार नहीं करते ; छोटे मौक़ों को ही बड़ा बना देते हैं।

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार में एक तूफ़ान आ गया। उसकी चाल के सामने फिर कोई रुकावट नहीं आ सकती। पहाड़ों की पसलियाँ तोड़कर ये लोग हवा के बगोले की तरह निगल जाते हैं, उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफ़ान देता है। कुदरत की और कोई ताक़त उनके सामने फटक नहीं सकती। सब चीज़ें थम जाती हैं। विधाता भी साँस रोककर उनकी राह को देखता है। यूरोप में जब रोम के पोप का ज़ोर बहुत बढ़ गया था तब उसका मुक़ाबला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखों के इशारे से यूरोप के बादशाह तख़्त से उतार दिए जा सकते थे। पोप का सिक्का यूरोप के लोगों पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्म-वाक्य से भी बढ़कर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। लाखों ईसाई साधु-संन्यासी और यूरोप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबंदी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ होती है उसी तरह पोप ने यूरोपवासियों की जान अपने हाथ में कर ली थी। इस पोप का बल और आतंक बड़ा भयानक था। मगर जरमनी के एक छोटे से मंदिर के एक कंगाल पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलाई थी कि यूरोप में स्वर्ग और नरक के टिकट बड़े-बड़े दामों पर बिकते थे। टिकट बेच-बेचकर यह पोप बड़ा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पापमय हैं और बंद होने चाहिएँ। पोप ने इसका जवाब दिया—"लूथर! तुम इस गुस्ताख़ी के बदले आग में ज़िन्दा जला दिए

जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भड़की। उसने लिखा—"अब मैंने अपने दिल में निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नहीं शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आपको ईश्वर के प्रतिनिधि कहनेवाले मिथ्यावादी! जब मैंने तुम्हारे पास सत्यार्थ का संदेश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामों से जवाब दिया। इससे साफ़ प्रतीत होता है कि तुम शैतान की दलदल पर खड़े हो, न कि सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटों के गट्ठे मैंने आग में फेंके। जो मुझे करना था मैंने कर दिया; जो अब तुम्हारी इच्छा हो, करो। मैं सत्य की चट्टान पर खड़ा हूँ।" इस छोटे से संन्यासी ने वह तूफ़ान यूरोप में पैदा कर दिया जिसकी एक लहर से पोप का सारा जंगी बेड़ा चकनाचूर हो गया। तूफ़ान में एक तिनके की तरह वह न मालूम कहाँ उड़ गया।

महाराज रणजीतसिंह ने फ़ौज से कहा—"अटक के पार जाओ"। अटक चढ़ी हुई थी और भयंकर लहरें उठी हुई थीं। जब फ़ौज ने कुछ उत्साह प्रकट न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोड़ा दरिया में डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गई और सब पार निकल गए।

दुनिया में जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने-मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलाधार बरस रही हैं। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फ़ौज निःस्तब्ध होकर सकते की हालत में खड़ी हो गई। आल्प्स के पहाड़ों पर फ़ौज ने चढ़ना ज्यों ही असंभव समझा त्यों ही वीर ने कहा—"आल्प्स है

ही नहीं।" फौज को निश्चय हो गया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग पार हो गए!

एक भेड़ चरानेवाली और सतोगुण में डूबी हुई युवती कन्या के दिल में जोश आते ही कुल फ्रांस एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनाने का काम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात हैं। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्या में लिखते भी नहीं। पेड़ तो ज़मीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है। उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझमें कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य में रखना है—सत्य को अपने अंदर कूट-कूटकर भरना है और अंदर-ही-अंदर बढ़ना है। उसे इस चिंता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगों को दिए।

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने-मरने में, खून बहाने में, तलवार-तोप के सामने जान गँवाने में होता है; कभी प्रेम के मैदान में उसका झंडा खड़ा होता है। कभी जीवन के गूढ़ तत्त्व और सत्य की तलाश में बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते हैं। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परंतु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नज़र आया; एक नया जलाल पैदा हुआ; एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता संसार में छा गई। वीरता हमेशा

निराली और नई होती है। नयापन भी वीरता का एक ख़ास रंग है। हिंदुओं के पुराणों की वह आलंकारिक कल्पना, जिससे पुराणकारों ने ईश्वरावतारों को अजीब-अजीब और भिन्न-भिन्न वेष दिए हैं, सच्ची मालूम होती है; क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नहीं सकता। वीरता की कभी नक़ल नहीं हो सकती; जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश-काल के अनुसार संसार में जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आई, जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित हो गए—कुछ बन न पड़ा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्ति पूजते हैं। इस मूर्ति का दर्शन वे चेरी के फूल को शांत हँसी में करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है! वीरता सदा जोर भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वीरता कभी-कभी हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है; ऐसी सुंदरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। जब कोमलता और सुन्दरता के रूप में वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाज़ुक और मनोहर होती है। जिस शख्स ने यूरोप को 'क्रूसेड्ज़' के लिए हिला दिया वह उन सबसे बड़ा वीर था जो लड़ाई में लड़े थे। इस पुरुष में वीरता ने आँसुओं और आहों का लिबास लिया। देखो, एक छोटा-सा मामूली आदमी यूरोप में जाकर रोता है कि हाय हमारे तीर्थ हमारे वास्ते खुले नहीं और यहूद के राजा यूरोप के यात्रियों को दिक करते हैं। इस आँसू-भरी अपील को सुनकर सारा यूरोप उसके साथ रो उठा। यह आला दरजे की वीरता है।

बुलबुल की छाया को बीमार लोग सब दवाइयों से बढ़कर समझते थे। उसके दर्शनों ही से कितने बीमार अच्छे हो जाते थे। वह अव्वल दरजे का सच्चा पक्षी है जो बीमारों के सिरहाने खड़ा होकर दिन-रात ग़रीबों की निष्काम सेवा करता है और गंदे ज़ख्मों को ज़रूरत के वक्त अपने मुख से चूसकर साफ़ करता है। लोगों के दिलों पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिंदुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आए, इतिहास के वर्क़ों के काले हर्फ़ों में न आए, तो भी संसार ऐसे ही बल से जीता है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सबका मन हो जाता है। उसके ख़याल सबके ख़याल हो जाते हैं। सबके संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका बल सबका बल हो जाता है। वह सबका और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने क़ायम नहीं हो सकते। वे तो देवदारु के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में ख़ुद-ब-ख़ुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिए; बिना किसी के दूध पिलाए, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भीतर ही भीतर होता है। बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। वीर की जिंदगी मुश्किल से कभी-कभी बाहर नज़र आती है। उसका स्वभाव तो छिपे रहने का है।

वह लाल गुदड़ियों के भीतर छिपा रहता है। कंदराओं में, ग़ारों में, छोटी-छोटी झोपड़ियों में बड़े-बड़े वीर महात्मा छिपे

रहते हैं। पुस्तकों और अखबारों को पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो सब ड्राइंग-हाल के वीर पैदा होते हैं, उनकी वीरता अनजान लोगों से अपनी स्तुति सुनने तक ख़तम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलों के लिए नहीं जीते।

हर बार दिखाव और नाम की ख़ातिर छाती ठोंककर आगे बढ़ना और पीछे हटना पहले दरजे की बुज़दिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक ज़रा-सी चीज़ है। वह सिर्फ़ एक बार के लिए काफ़ी है। मानों इस बंदूक में एक ही गोली है। हाँ; कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटनेवाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर, और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं, वे फिर पीछे इस गरज से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बड़े काम के लिए बच जाय। बादल गरज-गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं। परंतु बरसनेवाले बादल ज़रा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं—"पीछे हटे चलो।" कायर कहते हैं—"उठाओ तलवार।" वीर कहते हैं—"सिर आगे करो।" वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियों को फ़ज़ूल खो देने के लिए नहीं बनाया है। वीर-पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताक़तों का भंडार है। कुदरत का यह मरकज़ हिल नहीं सकता। सूर्य का चक्कर हिल जाय तो हिल जाय, परंतु वीर के दिल में जो दैवी केंद्र है वह अचल है। कुदरत के और पदार्थों की पालिसी चाहे आगे बढ़ने की हो;

अर्थात् अपने बल को नष्ट करने की हो, मगर वीरों की पालिसी बल को हर तरह इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अंदर ही 'मार्च' करते हैं, क्योंकि हृदयाकाश के केंद्र में खड़े होकर वे कुल संसार को हिला सकते हैं।

बेचारी मरियम का लाड़ला; ख़ूबसूरत जवान, अपने मद में मतवाला और अपने आपको शाहंशाह हक़ीक़ी कहनेवाला ईसा मसीह क्या उस समय कमज़ोर मालूम होता है जब भारी सलीब पर उठकर कभी गिरता, कभी ज़ख़्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है, कोई थूकता है, मगर उस मर्द का दिल नहीं हिलता। कोई क्षुद्र-हृदय और कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता; अपनी ताक़त को नष्ट कर देता; और संभव है कि एक निगाह से उस सल्तनत के तख़्ते को उलट देता और मुसीबत को टाल देता, परंतु जिसको हम मुसीबत जानते हैं उसको वह मख़ौल समझता था। "सूली मुझे है सेज पिया की, सोने दो मीठी-मीठी नींद है आती।" अमर ईसा को भला दुनिया के विषय-विकार में डूबे लोग क्या जान सकते थे? अगर चार चिड़ियाँ मिलकर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रो दूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़ियों से भी कम हो जाय। जैसे चिड़ियाँ मुझे फाँसी देकर उड़ गई वैसे ही बादशाह और बादशाहतें आज ख़ाक में मिल गई हैं। सचमुच ही वह छोटा-सा बाबा लोगों का सच्चा बादशाह है। चिड़ियों और जानवरों की कचहरियों के फ़ैसलों से जो डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। रानाजी ने ज़हर के प्याले से मीराबाई को डराना

चाहा। मगर वाह री सचाई! मीरा ने उस जहर को भी अमृत मानकर पी लिया। वह शेर और हाथी के सामने की गई, मगर वाह रे प्रेम! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणों की धूल को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया। इस वास्ते वीर पुरुष आगे नहीं, पीछे जाते हैं। भीतर ध्यान करते हैं। मारते नहीं, मरते हैं।

वह वीर क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गरम और झट ठंडा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गरम हो, और हज़ारों वर्ष बर्फ़ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उसकी वाणी तक ठंडी हो। उसे ख़ुद गरम और सर्द होने से क्या मतलब? कारलायल को जो आजकल की सभ्यता पर ग़ुस्सा आया तो दुनिया में एक नई शक्ति और एक नई ज़बान पैदा हुई। कारलायल अँगरेज़ ज़रूर है; पर उसकी बोली सबसे निराली है। उसके शब्द मानों आग की चिनगारियाँ हैं जो आदमी के दिलों में आग सी लगा देती हैं। सब कुछ बदल जाय मगर कारलायल की गरमी कभी कम न होगी। यदि हज़ार वर्ष संसार में दुखड़े और दर्द रोए जायँ तो भी बुद्धि की शांति और दिल की ठंडक एक दर्जा भी इधर-उधर न होगी। यहाँ आकर भौतिक विज्ञान के नियम रो देते हैं। हज़ारों वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। बाबर के सिपाहियों ने और लोगों के साथ गुरु नानक को भी बेगार में पकड़ लिया। उनके सिर पर बोझ रक्खा और कहा—"चलो।" आप चल पड़े। दौड़, धूप, बोझ, मुसीबत, बेगार में पकड़ी हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ़ लोगों का

दुःख, गाँव के गाँव का जलना सब क़िस्म की दुखदाई बातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारंगी बजाओ, हम गाते हैं।" उस भीड़ में सारंगी बज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शांति !

अगर कोई छोटा-सा बच्चा नेपोलियन के कंधे पर चढ़कर उसके सिर के बाल खींचे तो क्या नेपोलियन इसको अपनी बेइज़्ज़ती समझकर उस बालक को ज़मीन पर पटक देगा, जिसमें लोग उसको बड़ा वीर कहें ? इसी तरह सच्चे वीर जब उनके बाल दुनिया की चिड़ियाँ नोचती हैं, तब कुछ परवाह नहीं करते, क्योंकि उनका जीवन आसपासवालों के जीवन से निहायत ही बढ़-चढ़कर ऊँचा और बलवान् होता है। भला ऐसी बातों पर वीर कब हिलते हैं ; जब उनकी मौज आई तभी मैदान उसके हाथ है।

जापान के एक छोटे से गाँव की एक झोपड़ी में छोटे क़द का एक जापानी रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बड़ा अनुभवी और ज्ञानी था। बड़े कड़े मिज़ाज का स्थिर, धीर और अपने ख़यालात के समुद्र में डूबा रहनेवाला पुरुष था। आसपास रहनेवाले लोगों के लड़के इस साधु के पास आया-जाया करते थे और यह उनको मुफ़्त पढ़ाया करता था। जो कुछ मिल जाता वही खा लेता था। दुनिया की व्यावहारिक दृष्टि से वह एक क़िस्म का निखट्टू था, क्योंकि इस पुरुष ने संसार का कोई बड़ा काम नहीं किया था। उसकी सारी उम्र शांति और सत्त्वगुण में गुज़र गई थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली

आदमी है। एक दफा इत्तिफ़ाक से दो-तीन फ़सलों के न होने से इस फ़क़ीर के आस-पास के मुल्क में दुर्भिक्ष पड़ गया। दुर्भिक्ष बड़ा भयानक था। लोग बड़े दुःखी हुए। लाचार होकर इस नंगे, कंगाल फ़क़ीर के पास मदद माँगने आए। उसके दिल में कुछ ख़याल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया। पहले वह ओसाको नामक शहर के बड़े-बड़े धनाढ्य और भद्र पुरुषों के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भले मानसों ने वादा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वज़ीरों को पत्र लिखे कि इन किसानों को मदद देनी चाहिए, परंतु बहुत दिन गुज़र जाने पर भी जवाब न आया। ओशियो ने अपने कपड़े और किताबें नीलाम कर दीं। जो कुछ मिला, मुट्ठी भर कर उन आदमियों की तरफ फेंक दिया। भला इससे क्या हो सकता था? परंतु ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिव रूप हो गया। यहाँ इतना ज़िक्र कर लेना काफ़ी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते हैं। उनके हृदय की यह एक वासना है। ऐसी क़ौम के हज़ारों आदमी इस वीर के पास जमा हैं। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ में बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बग़ावत का झंडा खड़ा कर दो।" कोई भी चूँ-चरा न कर सका। बग़ावत का झंडा खड़ा हो गया। ओशियो एक बाँस पकड़कर सबके आगे किओटो जाकर बादशाह के क़िले पर हमला करने के लिए चला। इस फ़क़ीर जनरल की फ़ौज की चाल कौन रोक सकता था? जब शाही क़िले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा माँगी कि ओशियो और उसकी

बाग़ी फ़ौज पर बंदूकों की बाढ़ छोड़ी जाय? हुक्म हुआ कि "नहीं, ओशियो तो कुदरत के सब्ज़ वर्क़ों को पढ़ानेवाला है। वह किसी ख़ास बात के लिए चढ़ाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो क़िले में दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकड़कर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा—वे राजभांडार, जो अनाज से भरे हुए हैं ग़रीबों की मदद के लिए क्यों नहीं खोल दिए जाते?

जापान के राजा को डर-सा लगा। एक वीर उसके सामने खड़ा था, जिसकी आवाज़ में दैवी शक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाही भांडार खोल दिए जायँ और सारा अन्न दरिद्र किसानों को बाँटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गई। मंत्रियों के दफ़्तर लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बाँधी उसको कर दिखाया! लोगों की विपत्ति कुछ दिनों के लिए दूर हो गई। ओशियो के हृदय की सफ़ाई, सच्चाई और दृढ़ता के सामने भला कौन ठहर सकता था? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी वीरता का एक चिह्न है। रूस के ज़ार ने सब लोगों को फाँसी दे दी। किंतु टाल्सटाय को वह दिल से प्रणाम करता था! उनकी बातों का आदर करता था। जय वहीं होती है जहाँ कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े के ढेर पर नहीं खड़ी है कि जिस मुर्ग़े ने बाँग दी वही सिद्ध हो गया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमों पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभिन्नता करके खड़ा हुआ वह विजयी हो गया। आजकल लोग कहते हैं कि काम करो,

काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अंदर ही अंदर वृक्ष की तरह बढ़ो। आजकल भारतवर्ष में परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि हो गया। आजकल भारतवर्ष में अखबारों की टकसाल में गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहाँ किसी ने एक-दो काम किए और आगे बढ़कर छाती दिखाई तहाँ हिंदुस्तान के सारे अखबारों ने 'हीरो' और 'महात्मा' की पुकार मचाई। बस एक नया वीर तैयार हो गया। ये तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखनेवाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निंदा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे-छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्यों लटका रहे हो? क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में हैं? जहाँ इन्होंने रंग बदला कि हमारे वीरों के रंग बदले, ओंठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गईं।

प्यारे अंदर के केंद्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खो दो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी बनो, और वीरता के काम नहीं तो धीरे-धीरे अपने अंदर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।

जब हम कभी वीरों का हाल सुनते हैं तब हमारे अंदर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रंग चढ़ जाता है। परंतु वह चिरस्थायी नहीं होता। इसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर का मसाला तो होता नहीं। हम सिर्फ खाली महल

उसके दिखलाने के लिए बनाना चाहते हैं। टीन के बर्तन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केंद्र मे निवास करो और सचाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिंदगी किसी और के हवाले करो ताकि जिंदगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिए बाहर की सतह को छोड़कर जीवन के अंदर की तहों में घुस जाओ; तब नए रंग खुलेंगे। द्वेष और भेदहृष्टि छोड़ो, रोना छूट जायगा। प्रेम और आनंद से काम लो; शांति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायँगे। जीवन के तत्त्व का अनुभव करके चुप हो जाओ; धीर और गंभीर हो जाओगे। वीरों की, फ़क़ीरों की, पीरों की यह कूक है —हटो पीछे, अपने अंदर जाओ, अपने आपको देखो, दुनिया और की और हो जायगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।

———

गुलाबराय

भारतीय संस्कृति

परतंत्रता की शृंखलाएँ तोड़कर जब से हमारे देश ने स्वतंत्रता के वातावरण में साँस लेना आरंभ किया, तब से संस्कृति की चर्चा विशेष रूप से सुनाई देने लगी। अपने देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का प्रश्न आज हमारे सामने है।

प्रस्तुत निबंध में विद्वान् लेखक ने संस्कृति के स्वरूप और भारतीय संस्कृति की विशेषताओं का विचार किया है। संस्कृति वास्तव में किसी जाति या देश के पूर्ण व्यक्तित्व को कहते हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य के व्यक्तित्व में उस व्यक्ति से संबंधित सभी बातों का समावेश हो जाता है उसी प्रकार एक जाति की संस्कृति में भी उस जाति के आचार-व्यवहार, विचार-विश्वास आदि सभी कुछ आ जाते हैं। लेखक के मत से संस्कृति के दो अंग हैं—बाह्य और आंतरिक। बाह्य अंग में भाषा, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि आते हैं; और आंतरिक में त्याग, सत्य, यश, आश्रम-विभाग, अहिंसा इत्यादि।

इस विचार-प्रधान निबंध की सबसे बड़ी विशेषता है इसकी स्पष्ट और सुबोध शैली। अपने सुलझे हुए विचारों को लेखक ने सुलझी हुई भाषा में बिना किसी आडंबर के अभिव्यक्त कर दिया है।

भारतीय संस्कृति

'संस्कृति' शब्द का संबध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। इसका भी अर्थ 'पैदा करना, सुधारना' है। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी। (जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं) संस्कृति एक समूहवाचक शब्द है। जलवायु के अनुकूल रहन-सहन की विधियों और विचार-परंपराओं से जाति के लोगों में दृढ़मूल हो जाने से जाति के संस्कार बन जाते हैं। इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल न्यूनाधिक मात्रा में पैत्रिक संपत्ति के रूप में प्राप्त करता है। ये संस्कार व्यक्ति के घरेलू जीवन तथा सामाजिक जीवन में परिलक्षित होते हैं। मनुष्य अकेला रहकर भी इनसे छुटकारा नहीं पा सकता। ये संस्कार दूसरे देश में निवास करने अथवा दूसरे देशवासियों के संपर्क में आने से कुछ परिवर्तित भी हो सकते हैं और कभी-कभी दब भी जाते हैं किंतु अनुकूल वातावरण प्राप्त करने पर फिर उभर आते हैं।

संस्कृति का बाह्य पक्ष भी होता है और आंतरिक भी। इसका बाह्य पक्ष आंतरिक का प्रतिबिंब नहीं तो उससे संबंधित अवश्य रहता है। हमारे बाह्य आचार हमारे विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं। संस्कृति एक देश-विशेष की उपज होती है, उसका संबंध देश के भौतिक वातावरण और उसमें पालित, पोषित एवं परिवर्द्धित विचारों से होता है।

भाषा संस्कृति का कुछ बाहरी अंग-सा है, फिर भी वह हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायिका होती है। 'कुशल' शब्द को ही लीजिए। वह हमारी उस संस्कृति की ओर संकेत करता है जिसमें कि पूजा-विधान को संपन्नता के लिए कुश लाना एक दैनिक कार्य बना हुआ था। जो कुश ला सकता था वह तंदुरुस्त भी और होशियार भी समझा जाता था। 'प्रवीण' का संबंध वीणा से है—प्रकर्षः वीणायां प्रवीणः। हमारी भाषा में 'गो' से संबंधित शब्दों का बाहुल्य है, जैसे गोधुली-वेला (जिसमें विवाह जैसे शुभ कार्य संपन्न होते हैं), गोष्ठी, गवेषण (गाय की चाह या खोज के अर्थ-विस्तार द्वारा गवेषण का अर्थ 'खोज' हो गया), गवाक्ष (गौ की आँख—खिड़कियों का आकार शायद पहले गोल होता होगा), गुरसी (अँगीठी गोरसी से बनी है जिसमें गौ का दूध औटाया जाता था), गोपुच्छ (नाटक के संगठन को गौ की पूँछ के समान बताया गया है, अंत में आकर मूल कथा ही रह जाती है और उसका फैलाव बंद हो जाता है), गोमुखी (जिसके भीतर माला फेरी जाती है और जिससे जल गिरता है उसे भी कहते हैं), गोपन (छिपाना, यह शब्द भी गो से संबंध रखता है—जो वस्तु पाली जाती है, सुरक्षित रक्खी जाती है वह छिपाकर भी रक्खी जाती है) आदि। यह बाहुल्य हमारे समाज में गौ की प्रधानता का द्योतक है।

भारत गरम देश है। यहाँ हृदय को शीतल करना मुहावरा है, किंतु आंग्ल देश ठंडा है, वहाँ की परिस्थिति के अनुकूल warm reception (वार्म रिसेप्शन) और cold treatment (कोल्ड ट्रीटमेंट) आदि मुहावरे हैं। Breaking the ice (ब्रेकिंग दि आइस) मौन भंग करने के अर्थ में आता है और ice (आइस) ठंडेपन का प्रतीक है। मौन ठंडेपन का ही द्योतक है। अंग्रेज़ी का प्रयोग killing two birds with one stone (किलिंग टू बर्डस् विथ वन स्टोन) वहाँ की हिंसात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। हमारे यहाँ इसका अनुवाद हुआ है--'एक ढेले में दो पंछी' किंतु उसमें वह मधुरता नहीं जो 'एक पंथ दो काज' में है! उसके कहते ही हमको 'गोरस बेचन हरि मिलन, एक पंथ दो काज' की बात याद आ जाती है।

हमारी रहन-सहन, पोशाक आदि सभी बातें जातीय परिस्थिति, देश के वातावरण और देश की भावनाओं से संबंधित हैं। जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नहाकर खाना, लंबे ढीले कपड़े पहनना, बेसिले कपड़ों को अधिक शुद्ध मानना, ये सब चीजें देश की आवश्यकताओं और आदर्शों के अनुकूल हैं। गरम देश में पृथ्वी का स्पर्श बुरा नहीं लगता। इसीलिए यहाँ जूतों का इतना मान नहीं है जितना कि विलायत में। यहाँ हाथ से खाने का चलन इसलिए हुआ कि यहाँ हर समय हाथ धोए जा सकते हैं। अन्न को भी देवता माना जाता है, उससे सीधा संपर्क अधिक सुखद और स्वाभाविक समझा जाता है। यहाँ नहाने के लिए जल की कमी नहीं और नहाने की आवश्यकता भी अधिक होती है, इसलिए नहाना धर्म का अंग हो गया है।

इस देश में शरीर को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है।

इसीलिए लंबे कपड़ों को जो शरीर को उभार में न लावें और उसे पूर्णतया ढक लें अधिक महत्त्व दिया जाता है। बेसिले कपड़े जैसे, धोती आदि नित्य सहज में धोए जा सकते हैं। उनकी सीवन में भी किसी प्रकार का मैल नहीं रह सकता है, इसीलिए वे अधिक पवित्र माने जाते हैं। हमारे यहाँ नंगे सर की अपेक्षा सर ढकना अधिक सांस्कृतिक समझा जाता है। ऐसा सभी पूर्वी देशों में है। यहूदियों के प्रार्थना-भवनों में भी नंगे सर नहीं बैठते। बाल भी शरीर के अंग होने के कारण ढके जाने की अपेक्षा रखते हैं।

इसी प्रकार देश के वातावरण और रुचि के अनुकूल ही मांगल्य वस्तुओं का विधान किया जाता है। फूलों में हमारे यहाँ कमल को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसका संबंध जल और सूर्य दोनों से है। वह जल में रहता है और सूर्य को देखकर प्रसन्न होता है। जल और सूर्य देश की महती आवश्यकताओं में से हैं, इसका दोनों से संबंध है। कमल ही सब प्रकार के शारीरिक सौंदर्य का उपमान बनता है, चरण-कमल, नेत्र-कमल, मुख-कमल आदि कमल की महत्ता के द्योतक हैं। 'नवकंजलोचन कंजमुख करकंज पदकंजारुणम्' इस छंद में सभी अंग कमल बन गए हैं।

आम्र, कदली, दूर्वादल, नारियल, श्रीफल आदि को मांगल्य कार्यों में प्रमुख स्थान दिया जाता है। आम यहाँ का विशेष मेवा है। इसमें रस भरा रहता है और इसका बौर बसंत का अग्रदूत है। हमारे यहाँ अश्वत्थ को भी विशेष महत्ता दी गई है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की विभूतियों में अश्वत्थ को माना गया है। भारतीय संस्कृति में जिन-जिन वस्तुओं को

महत्ता दी गई है वे सब श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् की विभूतियों के रूप में आ गई हैं—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां'। भगवान् बुद्ध को भी अश्वत्थ वृक्ष के ही नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था। स्थावर वस्तुओं में हिमालय को, सरिताओं में गंगा को, पक्षियों में गरुड़ को तथा ऋतुओं में वसंत ऋतु को महत्ता दी गई है। स्त्रीलिंग चीजों में कीर्ति, वाणी, स्मृति, बुद्धि और धृति को महत्ता दी गई है। यह भी हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचायक है।

यह तो रहे संस्कृति के बाह्य अंग। संस्कृति के आंतरिक अंगों पर भारत में विशेष बल दिया गया है। धर्मग्रंथों में अच्छे मनुष्यों के जो लक्षण बतलाए गए हैं। मनुस्मृति में जो धृति क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध धर्म के दस लक्षण बतलाए गए वे सब भारतीयों की मानसिक और आध्यात्मिक संस्कृति के अंग हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में दिए हुए दैवी संपदावालों के लक्षण हैं जिनमें 'अभयं' को सबसे पहला स्थान दिया गया है। स्थितप्रज्ञ के लक्षण (दूसरा अध्याय), सात्त्विक चीजों के लक्षण (सत्रहवाँ अध्याय) आदि सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल सभ्य और शिष्ट पुरुष के लक्षण हैं। इससे सभी महाकाव्य ऐसे लक्षणों से भरे पड़े हैं। 'रघुवंश' में रघुकुल के राजाओं के जो गुण बतलाए गए हैं, वे न केवल भारत के सांस्कृतिक आदर्शों के परिचायक हैं, बल्कि उनसे अतीत का भव्य चित्र हमारे संमुख आ जाता है।

दूसरों को दान देने के लिए ही जो संपन्न बनते थे (उनका धन दानाय था), सत्य के लिए ही मितभाषी बने हुए थे (मिथ्या-

भिमान के कारण वे कम बातचीत नहीं करते थे), वे यश के लिए विजय प्राप्त करते थे (धन, राज्य छीनने के लिए नहीं), यश को अपने यहाँ अधिक महत्त्व दिया गया है। हमारे पूर्वज यश के लिए संसार की समस्त संपदा और वैभव त्यागने के लिए सदैव तत्पर रहते थे।

अर्जुन से भी श्रीकृष्ण ने अंतिम अपील यही की थी 'यशो लभस्व'। संतान के लिए (कामोपभोग के लिए नहीं, वरन् पितृ-ऋण चुकाने और समाज को अच्छे नागरिक देने के अर्थ) जो गृहस्थ बनते थे, बाल्यावस्था में जो विद्याध्यन करते थे, यौवन में विषय-भोग करनेवाले, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति को धारण करनेवाले और योग द्वारा शरीर को त्यागनेवाले (आजकल तो 'रोगेणान्ते तनुत्यजाम्' की बात हो गई है) ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ यद्यपि मेरे पास वाणी का वैभव अधिक नहीं है। [इससे पता चलता है कि प्राचीन भारत में त्याग, सत्य, यश, आश्रम-विभाग और सामाजिक कल्याण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। संक्षेप में भारतीय संस्कृति के मुख्य-मुख्य अंग इस प्रकार बतलाए जा सकते हैं—

(१) आध्यात्मिकता—इसके अंतर्गत नश्वर शरीर का तिरस्कार, परलोक और सत्य, अहिंसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्त्व देना, आवागमन की भावना, ईश्वरीय न्याय में विश्वास आदि बातें हैं। हमारे यहाँ की संस्कृति तपोवन-संस्कृति रही है जिसमें विस्तार ही विस्तार था—'प्रथम साम रव तव तपोवने प्रथम प्रभात तव गगने'। विस्तार के वातावरण में आत्मा का संकुचित रूप नहीं रह सकता था। इसीके अनुकूल

आत्मा का सर्वव्यापक-विस्तार माना गया है। इसीलिए हमारे यहाँ सर्वभूतहित पर अधिक महत्त्व दिया है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति'।

कीरी और कुंजर में एक ही आत्मा का विस्तार देखा जाता है। इसीसे गाँधीजी की सर्वोदय की भावना को बल मिला। हमारे यहाँ के मनीषी 'सर्वे सुखिनः भवन्तु, सर्वे सन्तु अनामयाः' का पाठ पढ़ते थे।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना हमारे यहाँ के लोगों को बड़े-बड़े बलिदानों के लिए तैयार कर सकी। शिवि, दधीच, मोरध्वज इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। महाराज दिलीप ने गुरु की प्रसन्नता के लिए नंदिनी नाम की गौ को चराने का व्रत धारण किया था। उसकी सिंह से रक्षा करने के लिए वे अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते हैं। वे सिंह से कहते हैं कि यदि तुम मुझ पर दया ही करना चाहते हो तो मेरे यश-शरीर पर दया करो। पंचभूतों से बने हुए नाशवान शरीर के पिंडों पर मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

हमारे यहाँ का मार्ग साधना का मार्ग रहा है और तप, त्याग और संयम को महत्ता दी गई है। क्या बौद्ध, क्या जैन और क्या वैष्णव सभी लोग इन गुणों की सराहना करते हैं।

हमारे यहाँ की आध्यात्मिकता मन और बुद्धि से परे जाती है। वह आत्मा का साक्षात् अनुभव करना चाहती है। यही भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का अंतर है। हमारे दर्शन का अर्थ आत्मा का दर्शन ही है, पाश्चात्य देशों में वह बुद्धि-विलास के रूप में रहा है।

(२) समन्वय-बुद्धि—आत्मा की एकता के आधार पर हमारे यहाँ अनेकता में एकता देखी गई है।

इसीसे मिलती-जुलती समन्वय-भावना है। हमारे विचारकों ने सभी वस्तुओं में सत्य के दर्शन किए हैं। उनका धर्म अवि-रोधी धर्म रहा है।

इसीलिए हमारे यहाँ धर्म-परिवर्तन को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। फिर भी संस्कृतियों का आदान-प्रदान हुआ है। तुलसीदासजी जैसे महात्मा ने, जो भारतीय संस्कृति के प्रति-निधि कहे जा सकते हैं, समन्वय-बुद्धि से ही काम लिया था। उन्होंने शैव और वैष्णवों का, ज्ञान और भक्ति तथा अद्वैत और विशिष्टाद्वैत का समन्वय किया था। आधुनिक कवियों में प्रसादजी ने भी अपनी 'कामायनी' में ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय किया है। मानवकल्याण में ज्ञान, इच्छा, क्रिया का पार्थक्य ही बाधक होता है।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा पूरी क्यों हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडंबना है जीवन की

(३) वर्णाश्रम-विभाग—हमारी संस्कृति में कार्य-विभाजन को बड़ा महत्त्व दिया गया है। समाज को भी चार भागों में बाँटा है और मानव-जीवन को भी। सामाजिक विभाजन बढ़ते-बढ़ते संकुचित और अपरिवर्तनीय बन गया। अपरिवर्तनीय बनने में भी इतनी हानि न थी यदि सबका महत्त्व, सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में एक-सा मान लिया गया होता। कुछ लोगों ने

श्रेष्ठता का एकाधिकार कर लिया और 'पंडितः समदर्शिनः' की बात भूल गए। हमारे सभी प्रचारकों और सुधारकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई और उन सबमें जोरदार आवाज रही भगवान् गौतम बुद्ध, संत कबीर और महात्मा गांधी की। पुरुष सूक्त ने तो चारों वर्णों को एक ही विराट् शरीर का अंग माना था—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः'। शूद्र भगवान् के चरणों से निकले। इसी आधार पर कविवर मैथिलीशरणजी गुप्त ने उन्हें सुरसरि का सहोदर कहा है। एक ही शरीर के विभिन्न अंगों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। सामाजिक संगठन का हमारे यहाँ बहुत ऊँचा आदर्श रक्खा गया था। वैदिक ऋषियों की तो यही भावना थी, लेकिन हम उसको भुला बैठे।

(४) अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय। इन चार गुणों को इसलिए ही रक्खा गया है कि इनके मूल में अहिंसा की भावना है और करुणा, मैत्री तथा विनय अहिंसा-व्रत के पालन में सहायक होते हैं। हिंसा केवल वध करने में ही नहीं होती है, वरन् किसी के उचित भाग ले लेने और दूसरे के जी दुखाने में भी। इसीलिए हमारे यहाँ 'सत्यं ब्रूयात्' के साथ 'प्रियं ब्रयात्' का पाठ पढ़ाया गया है। करुणा प्रायः छोटों के प्रति होती है, मैत्री बराबर वालों के प्रति और विनय बड़ों के प्रति, किंतु हमको सभी के प्रति शिष्टता का व्यवहार करना चाहिए। विनय शील का एक अंग है, उसको बड़ा आवश्यक माना गया है। भगवान् कृष्ण ने ब्राह्मण के विशेषणों में विद्या के साथ विनय भी लगाया—'विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे'। विनय भारतीय संस्कृति की एक विशेषता है। असांस्कृतिक लोग ही उद्धत होते हैं।

(५) प्रकृति-प्रेम—भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ सभी ऋतुएँ अपने समय पर आती हैं और पर्याप्त काल तक ठहरती हैं। ऋतुएँ अपने अनुकूल फल-फूलों का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्य-श्यामला हो जाती है। यहाँ का नगाधिराज हिमालय कवियों को सदा से प्रेरणा देता आ रहा है और यहाँ की नदियाँ मोक्षदायिनी समझी जाती रही हैं। यहाँ कृत्रिम धूप और रोशनी की आवश्यकता नहीं पड़ती। भारतीय मनीषी जंगल में रहना पसंद करते थे। प्रकृति-प्रेम के ही कारण यहाँ के लोग पत्तों में खाना पसंद करते हैं। वृक्षों में पानी देना एक धार्मिक कार्य समझते हैं। सूर्य और चंद्र दर्शन नित्य और नैमित्तिक कार्यों में शुभ माना जाता है। यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गए थे, तभी तो शकुंतला के पतिगृह जाते समय उसके जाने की उन सबों से आज्ञा चाहते हैं—

पीछे पीवत नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल-पात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत है सुखदान।
फूली अंग समात नहिं उत्सव करत महान्॥
सो यह जाति शकुंतला आज प्रिय के गेह।
आज्ञा देहु पयान को तुम सब सहित सनेह॥

हमारी संस्कृति इतने में ही संकुचित नहीं है। पारिवारिकता पर हमारी संस्कृति में विशेष बल दिया गया है। भारतीय संस्कृति में शोक की अपेक्षा आनंद को अधिक महत्त्व दिया

गया है। इसीलिए हमारे यहाँ शोकांत नाटकों का निषेध है। भारत में आतिथ्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। अतिथि को भी देवता माना गया है—'अतिथिदेवो भव'।

हमारी संस्कृति के मूल अंगों पर प्रकाश डाला जा चुका है। भारत में विभिन्न जातियों के पारस्परिक संपर्क में आने से संस्कृति की समस्या कुछ जटिल हो गई। पुराने जमाने में द्रविड़ और आर्य संस्कृति का समन्वय बहुत उत्तम रीति से हो गया था। इस समय मुस्लिम और अंग्रेजी संस्कृतियों का और मेल हुआ है। हम इन संस्कृतियों से अछूते नहीं रह सकते हैं। इन संस्कृतियों में से हम कितना लें और कितना छोड़ें, यह हमारे सामने बड़ी समस्या है। अपनी भारतीय संस्कृति को तिलांजलि दे इनको अपनाना आत्महत्या होगी। भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता यहाँ भी अपेक्षित है, किंतु समन्वय में अपना न खो बैठना चाहिए। दूसरी संस्कृतियों के जो अंग हमारी संस्कृति में अविरोध रूप से अपनाए जा सकें उनके द्वारा अपनी संस्कृति को संपन्न बनाना, आपत्तिजनक नहीं। अपनी संस्कृति चाहे अच्छी हो या बुरी, चाहे दूसरों की संस्कृति से मेल खाती हो या न खाती हो, उससे लज्जित होने की कोई बात नहीं।

दूसरों की संस्कृतियों में सब बातें बुरी ही नहीं हैं। हमारी संस्कृति में धार्मिक कृत्यों में एकांत-साधना पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि सामूहिक प्रार्थना का अभाव नहीं है। मुसलमानी और अंग्रेजी सभ्यता में सामूहिक प्रार्थना को अधिक आश्रय दिया गया, यद्यपि एकांत-साधना का वहाँ भी अभाव नहीं। हमारे कीर्तन आदि तथा महात्मा गाँधी द्वारा परिचालित प्रार्थना-सभाएँ धर्म में एकत्व की सामाजिक भावना को उत्पन्न करती

आई हैं। हमारे यहाँ सामाजिकता की अपेक्षा पारिवारिकता को महत्त्व दिया गया है। पारिवारिकता को खोकर सामाजिकता को ग्रहण करना तो मूर्खता होगी किंतु पारिवारिकता के साथ-साथ सामाजिकता बढ़ाना श्रेयस्कर होगा। भाषा और पोशाक में अपनत्व खोना जातीय व्यक्तित्व को तिलांजलि देना होगा। हमें अपनी संमिलित परिवार की प्रथा को इतना न बढ़ा देना चाहिए कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही न रह जाय और न व्यक्तित्व को इतना महत्त्व देना चाहिए कि गुरुजनों का आदर-भाव भी न रहे और पारिवारिक एकता पर कुठाराघात हो। कपड़े और जूतों की सभ्यता और कम-से-कम कपड़ा पहनना और नंगे पैर रहने की सभ्यता में भी समन्वय की आवश्यकता है। अंग्रेजी सभ्यता में जूतों का विशेष महत्त्व है किंतु उसे अपने यहाँ के चौका और पूजागृहों की सीमा पर आक्रमण न करना चाहिए। अंग्रेजी सभ्यता चीनी और काँच के बर्तनों की सभ्यता है। हमारी सभ्यता मिट्टी और पीतल के बर्तनों की है। हमारी सभ्यता स्वास्थ्य-विज्ञान के नियमों के अधिक अनुकूल है। यदि हम कुल्हड़ों के कूड़े का अच्छा बंदोबस्त कर सकें तो उससे अच्छी कोई चीज़ नहीं है। आलस्य को वैज्ञानिकता पर विजय न पाना चाहिए। अंग्रेजी संस्कृति से भी सफ़ाई और समय की पाबंदी की बहुत-सी बातें सीखी जा सकती हैं, किंतु अपनी संस्कृति के मूल अंगों पर ध्यान रखते हुए समन्वय-बुद्धि से काम लेना चाहिए। समन्वय द्वारा ही संस्कृति क्रमशः उन्नति करती रही है और आज भी हमें उसे समन्वयशील बनाना है।

———

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

क्या लिखूँ ?

यह एक प्रकार का आत्मव्यंजक निबंध ही है जिसमें बड़े कौशल से विषय-प्रधान शास्त्रीय निबंधों की गंभीरता और पांडित्य-प्रदर्शन पर प्रच्छन्न व्यंग करते हुए आधुनिक निबंध के उपादानों की ओर संकेत किया गया है। इस निबंध में लेखक की जो स्वच्छंद मनःस्थिति दिखाई देती है उसे पाश्चात्यों ने आधुनिक निबंधकार की एक प्रमुख विशेषता बतलाया है। लेखक ने 'स्वयं जो देखा, सुना और अनुभव किया' है उसे यहाँ रोचक शैली में लिपिबद्ध कर दिया है। इस निबंध में अन्विति और एकसूत्रता लानेवाला लेखक का आकर्षक व्यक्तित्व ही है जो पूरे निबंध में अनेक प्रकार से व्यंजित हुआ है। शैली इसकी शिष्ट, प्रांजल और रंजक है।

क्या लिखूँ?

मुझे आज लिखना ही पड़ेगा। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध निबंध लेखक ए० जी० गार्डिनर का कथन है कि लिखने की एक विशेष मानसिक स्थिति होती है। उस समय मन में कुछ ऐसी उमंग सी उठती है, हृदय में कुछ ऐसी स्फूर्ति-सी आती है, मस्तिष्क में कुछ ऐसा आवेग-सा उत्पन्न होता है कि लेख लिखना ही पड़ता है। उस समय विषय की चिंता नहीं रहती। कोई भी विषय हो, उसमें हम अपने हृदय के आवेग को भर ही देते हैं। हैट टाँगने के लिए कोई भी खूँटी काम दे सकती है। उसी तरह अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए कोई भी विषय उपयुक्त है। असली वस्तु है हैट, खूँटी नहीं। इसी तरह मन के भाव ही तो यथार्थ वस्तु हैं, विषय नहीं। गार्डिनर साहब के इस कथन की यथार्थता में मुझे संदेह नहीं; पर मेरे लिए कठिनता यह है कि मैंने उस मानसिक स्थिति का अनुभव ही नहीं किया है, जिसमें भाव अपने आप उपस्थित हो जाते हैं। मुझे तो सोचना पड़ता है,

चिंता करनी पड़ती है, परिश्रम करना पड़ता है, तब कहीं मैं एक निबंध लिख सकता हूँ। आज तो मुझे विशेष परिश्रम करना पड़ेगा, क्योंकि मुझे कोई साधारण निबंध नहीं लिखना है। आज मुझे नमिता और अमिता के लिए आदर्श निबंध लिखना होगा। नमिता का आदेश है कि मैं 'दूर के ढोल सुहावने होते हैं' इस विषय पर लिखूँ। अमिता का आग्रह है कि मैं समाज-सुधार पर लिखूँ। ये दोनों ही विषय परीक्षा में आ चुके हैं, और इन दोनों पर आदर्श निबंध लिखकर मुझे उन दोनों को निबंध-रचना का रहस्य समझाना पड़ेगा।

दूर के ढोल सुहावने अवश्य होते हैं। पर क्या वे इतने सुहावने होते हैं कि उन पर पाँच पेज लिखे जा सकें? इसी प्रकार जिस समाज-सुधार की चर्चा अनादिकाल से लेकर आज तक होती आ रही है और जिसके संबंध में बड़े-बड़े विज्ञों में भी विरोध है, उसको मैं पाँच पेजों में कैसे लिख दूँ? मैंने सोचा कि सबसे पहले निबंध-शास्त्र के आचार्यों की संमति जान लूँ। पहले यही तो समझ लूँ कि आदर्श निबंध है क्या और वह कैसे लिखा जाता है, तब फिर मैं विषय की चिंता करूँगा। इसीलिए मैंने निबंध-शास्त्र के कई आचार्यों की रचनाएँ देखीं। एक विद्वान् का कथन है कि निबंध छोटा होना चाहिए। छोटा निबंध बड़े की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है, क्योंकि बड़े निबंध में रचना की सुंदरता नहीं बनी रह सकती। इस कथन को मान लेने में ही मेरा लाभ है। मुझे छोटा ही निबंध लिखना है, बड़ा नहीं। पर लिखूँ कैसे? निबंध-शास्त्र के उन्हीं आचार्य महोदय का कथन है कि निबंध के दो प्रधान अंग हैं—

सामग्री और शैली। पहले तो मुझे सामग्री एकत्र करनी होगी, विचार-समूह संचित करना होगा। इसके लिए मुझे मनन करना चाहिए। यह तो सच है कि जिसने जिस विषय का अच्छा अध्ययन किया है उसके मस्तिष्क में उस विषय के विचार आते हैं। पर यह कौन जानता था कि 'दूर के ढोल सुहावने' पर भी निबंध लिखने की आवश्यकता होगी। यदि यह बात पहले से ज्ञात होती तो पुस्तकालय में जाकर इस विषय का अनुसंधान कर लेता, पर अब समय नहीं है। मुझे तो यहीं बैठकर दो ही घंटों में दो निबंध तैयार कर देने होंगे। यहाँ न तो विश्वकोष है और न कोई ऐसा ग्रंथ जिसमें इन विषयों की सामग्री उपलब्ध हो सके। अब तो मुझे अपने ही ज्ञान पर विश्वास कर लिखना होगा।

विज्ञों का कथन है कि निबंध लिखने के पहले उसकी रूप-रेखा बना लेनी चाहिए। अतएव सबसे पहले मुझे 'दूर के ढोल सुहावने' की रूप-रेखा बनानी है। मैं सोच ही नहीं सकता कि इस विषय की कैसी रूप-रेखा है। निबंध लिखने के बाद मैं उसका सारांश कुछ ही वाक्यों में भले ही लिख दूँ, पर निबंध लिखने के पहले उसका सार दस-पाँच शब्दों में कैसे लिखा जाय? क्या सचमुच हिंदी के सब विज्ञ लेखक पहले से अपने अपने निबंधों के लिए रूप-रेखा तैयार कर लेते हैं। ए० जी० गार्डिनर को तो अपने लेखों का शीर्षक बनाने में ही सबसे अधिक कठिनाई होती है। उन्होंने लिखा है कि मैं लेख लिखता हूँ और शीर्षक देने का भार मैं अपने मित्र पर छोड़ देता हूँ। उन्होंने यह भी लिखा है कि शेक्सपीयर

को भी नाटक लिखने में जितनी कठिनता न हुई होगी उतनी कठिनता नाटकों के नामकरण में हुई होगी। तभी तो घबड़ाकर नाम न रख सकने के कारण उन्होंने अपने एक नाटक का नाम रखा 'जैसा तुम चाहो'। इसलिए मुझसे तो यह रूप-रेखा तैयार न होगी। अब मुझे शैली निश्चित करनी है। आचार्य महोदय का कथन है कि भाषा में प्रवाह होना चाहिए। इसके लिए वाक्य छोटे-छोटे हों, पर एक दूसरे से संबद्ध। यह तो बिलकुल ठीक है। मैं छोटे-छोटे वाक्य अच्छी तरह लिख सकता हूँ। पर मैं हूँ मास्टर। कहीं नमिता और अमिता यह न समझ बैठें कि मैं यह निबंध बहुत मोटी अक़्ल वालों के लिए लिख रहा हूँ। अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करने के लिए, अपना गौरव स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि वाक्य कम से कम आधे पृष्ठ में समाप्त हो। बाणभट्ट ने कादंबरी में ऐसे ही वाक्य लिखे हैं। वाक्यों में कुछ अस्पष्टता भी चाहिए। क्योंकि यह अस्पष्टता या दुर्बोधता गांभीर्य ला देती है। इसीलिए संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्रीहर्ष ने जान-बूझकर अपने काव्य में ऐसी गुत्थियाँ डाल दी हैं जो अज्ञों से न सुलझ सकें और सेनापति ने भी अपनी कविता मूढ़ों के लिए दुर्बोध कर दी है। तभी तो अलंकारों, मुहावरों और लोकोक्तियों का समावेश भी निबंधों के लिए आवश्यक बतलाया जाता है। तब क्या किया जाय ?

'' अंगरेजी के निबंधकारों ने एक दूसरी ही पद्धति को अपनाया है। उनके निबंध इन आचार्यों की कसौटी पर भले ही खरे सिद्ध न हों, पर अंगरेजी साहित्य में उनका मान अवश्य है। उस पद्धति के जन्मदाता मान्टेन समझे जाते हैं। उन्होंने स्वयं

जो देखा, सुना और अनुभव किया उसी को अपने निबंधों में लिपिबद्ध कर दिया। पाश्चात्य साहित्य में ऐसे निबंधों का विकास आधुनिक युग में हुआ है। आख्यायिका की तरह यह निबंध-कला भी आधुनिक युग की रचना है। ऐसे निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मन की स्वच्छंद रचनाएँ हैं। उनमें न कवि की उदात्त कल्पना रहती है, न आख्यायिका-लेखक की सूक्ष्म दृष्टि और न विज्ञों की गंभीर तर्क-पूर्ण विवेचना। उनमें लेखक की सच्ची अनुभूति रहती है, उनमें उसके सच्चे भावों की सच्ची अभिव्यक्ति होती है, उनमें उसका उल्लास रहता है। कवि उच्च मार्ग से प्रेरित होकर काव्य की रचना करते हैं, विज्ञ ज्ञान की कसौटी पर सत्य की परीक्षा कर प्रबंध लिखते हैं। आख्यायिका-लेखक कल्पना के द्वारा मनुष्य-जीवन का रहस्य प्रत्यक्ष कराने के लिए चरित्र-वैचित्र्य और घटना-वैचित्र्य की सृष्टि करते हैं। पर ये निबंध तो उस मानसिक स्थिति में लिखे जाते हैं, जिसमें न ज्ञान की गरिमा रहती है और न कल्पना की महिमा, जिसमें जीवन का गौरव भूलकर हम अपने में ही लीन हो जाते हैं जिसमें हम संसार को अपनी ही दृष्टि से देखते हैं और अपने ही भाव से ग्रहण करते हैं। तब इसी पद्धति का अनुसरण कर मैं भी क्यों न निबंध लिखूँ। पर मुझे दो निबंध लिखने होंगे।

मुझे अमीर खुसरो की कहानी याद आई। एक बार प्यास लगने पर वे कुएँ के पास पहुँचे। वहाँ चार औरतें पानी भर रही थीं। पानी माँगने पर पहले उनमें से एक ने खीर पर कविता सुनने की इच्छा प्रकट की, दूसरी ने चर्खे पर, तीसरी ने कुत्ते पर

और चौथी ने ढोल पर। अमीर खुसरो प्रतिभावान थे, उन्होंने एक ही पद्य में चारों की इच्छाओं की पूर्ति कर दी। उन्होंने कहा—

खीर पकाई जतन से, चर्खा दिया चला;
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा।

मुझमें खुसरो की प्रतिभा नहीं है पर उनकी इस पद्धति को स्वीकार करने से मेरी कठिनाई आधी रह जाती है। मैं भी एक ही निबंध में इन दोनों विषयों का समावेश कर दूँगा, एक ही ढेले से दो चिड़ियाँ मार लूँगा।

दूर के ढोल सुहावने होते हैं, क्योंकि उनकी कर्कशता दूर तक नहीं पहुँचती। जब ढोल के पास बैठे हुए लोगों के कान के पर्दे फटते रहते हैं, तब दूर किसी नदी के तट पर, संध्या समय, किसी दूसरे के कान में वही शब्द मधुरता का संचार कर देते हैं। ढोल के उन्हीं शब्दों को सुनकर वह अपने हृदय में किसी के विवाहोत्सव का चित्र अंकित कर लेता है। कोलाहल से पूर्ण घर के एक कोने में बैठी हुई किसी लज्जाशीला नववधू की कल्पना वह अपने मन में कर लेता है। उस नववधू के प्रेम, उल्लास, संकोच, आशंका और विषाद से युक्त हृदय के कंपन, ढोल की उस कर्कश ध्वनि को मधुर बना देते हैं। सच तो यह है कि ढोल की ध्वनि के साथ आनंद का कलरव, उत्सव का प्रमोद और प्रेम का संगीत ये तीनों मिले रहते हैं। तभी उनकी कर्कशता समीपस्थ लोगों को भी कटु नहीं प्रतीत होती और दूरस्थ लोगों के लिए तो वह अत्यंत मधुर बन जाती है।

यह बात सच है कि दूर रहने से हमें यथार्थता की कठोरता

का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि जो तरुण संसार के जीवन-संग्राम से दूर हैं, उन्हें संसार का चित्र बड़ा ही मनोमोहक प्रतीत होता है। प्रेम की वेदना ही उनके लिए वेदना है। प्रियतमा की निष्ठुरता ही उनके लिए निष्ठुरता है। प्रेम का व्यवसाय ही उनका एक व्यवसाय है। प्रेम ही उनके लिए आटा-दाल है और प्रेम ही उनका सर्वस्व है। वे प्रियतमा की गोद में रोग की यंत्रणा भूल जाते हैं। प्रियतमाएँ भी संध्या के समय में प्रियतम के अंक में मृत्यु का अनुभव करने के लिए लंबी यात्रा का कष्ट सह लेती हैं। तरुणों के लिए रोग और मृत्यु दोनों सुखद हैं, दोनों में प्रेम की मधुरता है। पर संसार में प्रविष्ट होते ही प्रेम का यह कल्पित संसार न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। तब उन्हें संसार की यथार्थता का ज्ञान होता है, तब उन्हें जीवन की कटुता का अनुभव होता है और तभी उन्हें ढोल की कर्कशता मालूम हो जाती है।

जो वृद्ध हो गए हैं, जो अपनी बाल्यावस्था और तरुणावस्था से दूर हट आए हैं, उन्हें अपने अतीत काल की स्मृति बड़ी सुखद हो जाती है। वे अतीत का ही स्वप्न देखते हैं। तरुणों के लिए जैसे भविष्य उज्ज्वल होता है वैसे ही वृद्धों के लिए अतीत। वर्तमान से दोनों को असंतोष होता है। तरुण भविष्य को वर्तमान में लाना चाहते हैं और वृद्ध अतीत को खींचकर वर्तमान में देखना चाहते हैं। तरुण क्रांति के समर्थक होते हैं और वृद्ध अतीत-गौरव के संरक्षक। इन्हीं दोनों के कारण वर्तमान सदैव क्षुब्ध रहता है और इसी से वर्तमान काल सदैव सुधारों का काल बना रहता है।

मनुष्य-जाति के इतिहास में कोई ऐसा काल ही नहीं हुआ जब सुधारों की आवश्यकता न हुई हो। तभी तो आज तक कितने ही सुधारक हो गए हैं। पर सुधारों का अंत कब हुआ है? भारत के इतिहास में बुद्धदेव, महावीर स्वामी, नागार्जुन, शंकराचार्य, कबीर, नानक, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद और महात्मा गाँधी में ही सुधारकों की गणना समाप्त नहीं होती। सुधारकों का दल नगर-नगर और गाँव-गाँव में होता है। यह सच है कि जीवन में नये-नये दोष उत्पन्न हो जाते हैं और नये-नये सुधार होते जाते हैं। न दोषों का अंत है और न सुधारों का। जो कभी सुधार थे वही आज दोष हो गए हैं और उन सुधारों का फिर से नव सुधार किया जाता है। तभी तो यह जीवन प्रगतिशील माना गया है।

हिंदी में प्रगतिशील साहित्य का निर्माण हो रहा है। उसके निर्माता यह समझ रहे हैं कि उनके साहित्य में भविष्य का गौरव निहित है। पर कुछ ही समय के बाद उनका यह साहित्य भी अतीत का स्मारक हो जायगा और आज जो तरुण हैं वही वृद्ध होकर अतीत के गौरव का स्वरूप देखेंगे। उनके स्थान में तरुणों का फिर दूसरा दल आ जायगा जो भविष्य का स्वप्न देखेगा। दोनों ही स्वप्न सुखद होते हैं, क्योंकि दूर के ढोल सुहावने होते हैं।

———

रामचंद्र शुक्ल

करुणा

आचार्य शुक्ल के विचारात्मक निबंध साहित्य की मूल्यवान् संपत्ति हैं। विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें वैज्ञानिक की सूक्ष्मता और सतर्कता दिखाई देती है और भावों को प्रेषित करने तथा संवेदना उत्पन्न करने की दृष्टि से 'विशदीभूत मनोमुकुर' वाले साहित्यिक की सहृदयता के दर्शन होते हैं। इनके निबंधों में विचार-परंपरा बहुत कसी हुई होती है और उसका विश्लेषण ऐसी क्रम-व्यवस्था के साथ होता है कि आदि से लेकर अंत तक विचारों की सुसंबद्ध शृंखला प्रस्तुत हो जाती है। गंभीर और जटिल भावों को प्रायः सूत्र रूप में कहकर ये उसकी ऐसी विशद व्याख्या करते तथा उदाहरणों द्वारा अपना मंतव्य ऐसी मार्मिक पद्धति पर प्रस्फुट करते हैं कि गूढ़ से गूढ़ विषय भी भली भाँति स्पष्ट हो जाते हैं। इनके घनीभूत वाक्यों की व्यंजक ध्वनि दूर तक जाती है।

अर्थ का औदार्य, शब्द-सौष्ठव, संतुलित वाक्य-योजना, भास्वरता, सबलता, विदग्धता और मार्मिकता इनकी गद्य-शैली की विभूतियाँ हैं। भाषा इनकी वशवर्तिनी है, जो प्रसंग के अनुकूल विविध रूप-रंग पकड़कर कहीं गंभीर, कहीं सरल और स्पष्ट, कहीं प्रवाहपूर्ण, कहीं भावमयी और कहीं सजीव, विनोद-युक्त, विदग्ध और वक्र होकर चलती है। विषय की प्रधानता होते हुए भी निबंधों में इनका व्यक्तित्व अनेक प्रकार से व्यंजित हुआ है।

प्रस्तुत निबंध में करुणा नामक मनोभाव का मानव-जीवन में आविर्भाव दिखाते हुए उसका स्वरूप-निर्धारण किया गया है और अन्य सहयोगी एवं विरोधी भावों से उसकी तुलना करके उसकी व्याप्ति बतलाते हुए वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में उसकी प्रेरकता और आवश्यकता का विवेचन अत्यंत समर्थ प्रणाली पर हुआ है।

करुणा

जब बच्चे को कार्य-कारण-संबंध कुछ कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है तभी दु.ख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरे के दुःख के कारण वा कार्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं*। इसी प्रकार जब उनके किसी भाई वा बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं†।

---

* कार्य। † कारण।

दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनंद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी कभी और व्यक्तियों वा वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति वा वस्तु का लोभ होगा उसकी हानि वह कभी नहीं करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा; पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा। कभी कभी नम्रता, सज्जनता, धृष्टता, दीनता आदि मनुष्य की स्थायी वासनाएँ, जिन्हें गुण कहते हैं, तीव्र होकर मनोवेगों का रूप धारण कर लेती हैं पर वे मनोवेगों में नहीं गिनी जातीं।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्यों ही समाज में प्रवेश करता है, उसके दुःख और सुख का बहुत सा अंश दूसरों की क्रिया वा अवस्था पर निर्भर हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिये अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि क्या दूसरों के दुःख से

दुखी होने का नियम जितना व्यापक है उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिये बंद नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध वा अत्याचार किया है, हमारी दया दूर वा कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध वा अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी वा अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है। सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिये पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद् या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् वा चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र वा हितू हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ वा कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उसमें वेग वा क्रियोत्पादक गुण है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा विशेष संसर्ग है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दुःख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। किसी भोली-भाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बंधु को दुःख में देख हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की यह सापेक्ष तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से इस प्रकार परिमित की गई है।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि-संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता वा दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध वा संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्यों को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण या बचाव हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य का साधन हो वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिये उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दुःख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अंतःकरण-वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा वा प्रसन्नता से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है। पर एक

तो कृपा वा प्रसन्नता में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोवेगों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान वा अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील वा साधारण सद्वृत्ति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता वा मुरौवत ही का भाव समझा जाता है जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है पर दुःशीलता वा दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह कभी बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिये कि वह उसे ठीक नहीं जँचती, वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिये नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार के अनुसार 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अंतर्गत हैं, शील वा सद्भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिये यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरंजन,

खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियमभंग द्वारा अंतःकरण की किसी उच्च और उदात्त वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील वा सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार केवल दंभ है। मनुष्य के अंतःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विकशीलता ही है। अतः करुणा और सात्त्विकता का संबंध इस बात से और भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। (यह दिखलाया ही जा चुका है कि प्राणियों की आदि अंतःकरण-वृत्ति रागात्मक है।) अतः मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदिसंस्थापक ठहरा।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि (मनुष्य का आचरण मनोवेग वा प्रवृत्ति ही का फल है।) बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मनोवेग पर निर्भर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक दिखलाया है कि हमारे निश्चयों का अंतिम आधार अनुभव वा कल्पना की तीव्रता ही है, बुद्धि द्वारा स्थिर की हुई कोई वस्तु नहीं। गीली लकड़ी को आग पर रखने से हमने एक बार धुआँ उठते देखा, दस बार देखा, हजार बार देखा, अतः हमारी कल्पना में यह व्यापार जम गया और हमने निश्चय किया कि गीली लकड़ी आग पर रखने से धुआँ होता है। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंतःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे मनोवेगों के लिये उपयुक्त विषय मात्र ढूँढती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर कल्पना को और मनोवेगों को व्यवस्थित और तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है वह भी करुणा कहलाता है, क्योंकि उसमें दया वा करुणा का अंश भी मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की संप्राप्ति किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है वह उसके दूर होने से अनिश्चय में परिवर्तित हो जाता है। अस्तु, प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारण जनों के उपस्थित दुःख से होती है वही करुणा हमें

प्रिय जनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारण जनों का तो हमें दुःख असह्य होता है पर प्रिय जनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चित बात पर सुखी या दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है इसी से इस प्रकार के दुःख वा करुणा को किसी किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती हैं—

वन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादौं बरसै, पवन चलै पुरुवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वैहैं, राम लखन दोउ भाई।

—गीत

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि—

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै? आगे बढ़कर
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन छिन आगो लैहै? अगवानी
और उद्धव से कहती हैं—

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
तप्त ब्रजभाषा का शब्द
उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करिके न्हाते।

तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहौ तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै।
अब यह सूर मोहि निसि-वासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच।

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री संदेह करती है—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश होता है उसे तो मैंने दिखलाया किंतु ऐसे दुःख का प्रधान अंग आत्मपक्ष-संबंधी एक और ही प्रकार का दुःख होता है जिसे शोक कहते हैं। जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिये संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिये है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके लिये उसके संसार के एक अंश का उठ जाना या जीवन के एक अंग का निकल जाना है। किसी प्रिय वा सुहृद् के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किए हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा-पूर्ति के

संबंध में अपनी त्रुटियों को स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिये जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं।

(सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिये करुणा का प्रसार आवश्यक है।) समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे को सहायता अपनी अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी न किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं है कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता, विवेचना द्वारा निश्चित, इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन की प्रवृत्ति-कारिणी प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना है इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुडे मुंडे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिये एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक ये समाज-शास्त्र के वक्ता बतलाते हैं तो हमारी दया मोटे, मुसंडे

और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और असहज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा सा अंतःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के विशेषतः अपने परिचितों के क्लेश या करुणा पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में अब इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र में घुसकर सच्चाई को चरती चली जा रही है।

करुणा अपना बीज लक्ष्य में नहीं फेंकती अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञता, श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखलाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। उद्वेगशील बँगला उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या उपलब्ध ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश और काल-संबंधी विस्तार बढ़ाता है। उपस्थित विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिये यह विस्तार कभी कभी आवश्यक होता है। मनोवेगों की उपयुक्तता कभी कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है पर जब सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा तब हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि केवल मनोवेगों के सहायक हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे मनोवेगों के लिये विषय उपस्थित करते हैं। ये कभी तो आपसे आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी किसी विषय के सामने आने पर ये उससे संबंध (पूर्वापर वा कार्य-कारण-संबंध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब के सब एक ही मनोवेग के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न भिन्न मनोवेगों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न मनोवेग को परिवर्तित वा धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग वा प्रवृत्ति को मंद करनेवाली, स्मृति, अनुमान वा बुद्धि आदि कोई दूसरी अंतःकरण-वृत्ति नहीं है, मन की रागात्मिका क्रिया या अवस्था ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति ही में है । नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोवेगों को दूर करने का उपदेश घोर पाखंड है । इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त संबंध-निर्वाह पर जोर देते हैं । यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है । प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है । बन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिये अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं । दुराचार पर उसे क्रोध वा घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी को भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है । जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं । इस प्रकार मनुष्य, हृदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है—उसकी भावुकता का नाश होता जाता है । पाखंडी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना बनाकर, कहने लगे हैं—'करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, क्रोध छोड़ो, आनंद छोड़ो । बस हाथ-पैर हिलाओ, काम करो ।'

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार क्रिया करना और बात, पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी पर जब बार बार दया का कोई अनुसारी परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेग के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता, (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया हो जाती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। अब नियम को लीजिए। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे अकिंचन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से

रोकेगा। राजा हरिश्चंद्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी दुखिया स्त्री होती तो राजा हरिश्चंद्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है, अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है इससे राजा हरिश्चंद्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से उपयुक्त प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिए तो न्याय यह है कि वह १०००) लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि १०००) लेने के उपरांत उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता है और कान पकड़ता है और पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किए, या

अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा संत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्ता को करुणा है तो वह उसकी शांति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिये करुणा का द्वार खुला है।

सियारामशरण गुप्त

अपूर्ण

व्यक्तिप्रधान निंबध की प्रायः सभी विशेषताओं से युक्त प्रस्तुत रचना रोचक भी है और सरस भी। लेखक की आत्मीयताव्यंजक अनौपचारिकता पाठक से आरंभ में ही सौहार्द स्थापित कर लेती है और साथ ही वह अपने स्वभाव की अतिशय सरलता और मधुरता से पाठक का मन मोह लेता है। इस निबंध की अपने आपमें पूर्ण अपूर्णता शीर्षक से ही नहीं प्रत्युत पूरी रचना में व्यक्त होकर मधुर और नियंत्रित स्वच्छंद मनःस्थिति के द्वारा एक प्रकार का घरेलू वातावरण उत्पन्न करती है। कहीं कवि-मानस की रसार्द्रता हमारी रागात्मक वृत्ति को स्पंदित करती है, कहीं परिष्कृत व्यंग और विनोद ग्राहक बुद्धि को चमत्कृत करते हैं और कहीं लेखक की कवि-सुलभ सौंदर्य-चेतना शेष सृष्टि में विरोधाभासों के बीच सामंजस्य पूर्ण मनोमुग्धकारी दृश्यों की झाँकी दिखलाकर अभिनव मंगलमयी अनुभूति जगाती है। बीच बीच में आए सरल प्रसंग-संकेत शैली में आकर्षण लाते और व्यंजकता उत्पन्न करते हैं। वसंतागम के अवसर पर विविध प्रफुल्ल विचार-वीथियों के बीच से पाठक को घुमाते हुए निबंधकार ने 'अपूर्ण' का जो सौंदर्य दिखलाया है और जिस उत्थानमूलक और समन्वयात्मक जीवनदर्शन की झलक दी है वह दर्शनीय भी है और मननीय भी।

अपूर्ण

वसन्त का आगमन अभी हाल में ही हुआ है बहुत सी बातों के कारण घर में उससे दो घड़ी बात कर लेने का भी समय नहीं मिलता। इसके लिए वन और खेत का एकांत चाहिए। इसी कारण आज का काम कल कर लेने की मूर्खतापूर्ण बात सोचकर भी आज संध्या समय कुछ जल्दी घूमने के लिए बाहर निकल आया हूँ।

वृक्षों में नई नई कोपलें आ गई हैं। आम ने मौरकर अपने भीतर की खटाई और कसैलेपन को भी मधुर कर दिया है। नये जीवन की उष्णता पाकर हवा भी कुछ और की और हो गई है। कदाचित् कोइल भी कूकने लगी है, परंतु अभी तक मैं उसे सुन नहीं सका। सुन कैसे सकूँ, पहले पहल किसी कवि-सखा के कान में ही वह अपना अमृत ढालेगी।

कुछ हो, किसी तरह कवि बनने की इच्छा तो आज मेरी भी है। कम से कम काम मैं कवि का ही कर रहा हूँ। पक्की सड़क

की मोटी 'लीक' छोड़कर घूमने के लिए मैं खेतों की ओर मुड़ गया हूँ। मैंने यह विचार नहीं किया कि यह रास्ता ऊँचा-नीचा, चौड़ा-सकड़ा, टेढ़ा-मेढ़ा, और जहाँ तहाँ झाड़-झंखाड़ और काँटों से भरा होने के कारण मुझ जैसे जन के चलने योग्य नहीं है!

साँझ के मटमैलेपन के ऊपर सप्तमी के अर्द्धचंद्र का प्रकाश स्पष्ट हो उठा। स्पष्ट उतना ही जितना वह है। सोचा था, खेतों की हरियाली से ही मैं आज अपने को तृप्त करूँगा; चाँदनी का रस लेने के लिए मुझे पूर्णिमा की प्रतीक्षा करनी होगी। परंतु मेरा मन अब यह कुछ नहीं सुनना चाहता। एकाएक भीतर के भीतर तक वह पुलकित हो उठा है। पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया है।

यह पूरा विकसित नहीं है तो क्या हुआ, इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है! अधूरे और अधखिले में भी अपना कुछ स्वाद है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिन नववयस्कों की रसना और दंतपंक्ति में बुढ़ापे का कीट नहीं लग गया, उन्हें कच्चे आम में भी पके रसाल की अपेक्षा अधिक रस मिलता है। इस विषय में मेरा निजी अनुभव भी ऐसा ही है। बहुत पहले इन्हीं दिनों एक बार मैंने लगातार तीन चार महीने खटिया पर रोग का सेवन किया था। लेटे लेटे उस समय मैं प्रायः यही प्रश्न किया करता था कि मेरे अच्छे होने तक अमियों की फसल तो रहेगी नहीं? मेरे सिरहाने बैठकर

इस संबंध में अन्यथा आश्वस्त करके भी जिसने मुझे उस समय प्रसन्न कर रक्खा था, उसे साक्षी के रूप में पाठक के सामने उपस्थित कर सकने में आज मैं असमर्थ हूँ। फिर भी उस आनंद की स्मृति चिरस्मरणीय होकर मेरे साथ है। उस समय मुझमें रसबोध नहीं था, यह मैं स्वीकार नहीं करना चाहता। आनंद देवता के उदार हाथों से जब जो मिले, उसी से संतुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है। नहीं तो हममें और सिर फोड़कर धरना देनेवाले मंगतों में अंतर ही क्या रहा? इस अर्द्धचंद्र का पूरा का पूरा वैभव छीनकर, हमने इसे कल के लिए कंगाल नहीं कर दिया, इससे बढ़कर दूसरा आनंद हमारे लिए हो नहीं सकता। वर्ष के प्रारंभ में ही न जाने कब से मधुमास हमें आधा ही मिलता आ रहा है। कदाचित् ऐसा इसलिए कि उसके मधु-भंडार की अक्षयता में हमारा विश्वास बना रहे। और, इस प्रकार हमारा यह वर्ष ऊपर से नीचे तक पूरा का पूरा मधु-मिश्रित हो गया है, इसका कहना ही क्या।

आश्चर्य की बात है कि इतने सुंदर इस अर्द्धचंद्र की उपेक्षा हमारे कवियों ने क्यों की। मुझे याद नहीं पड़ता कि इसे देखकर उन्होंने कभी अपना उल्लास प्रकट किया हो। कहने को कहते वे यही हैं कि 'सब उघरे सोहैं नहीं कवि आखर' - इत्यादि। चाहते तो इस सूची में वे इस प्रेयस् चंद्र को भी शामिल कर सकते थे। परंतु न जाने वे क्यों इसे पूरा ही देखना चाहते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपना सिद्धांत बदल देना पड़े। वे जानते हैं कि इस वास्तविक जगत् में 'नित प्रति पूनों ही' नहीं रह सकती। पूनों का संगीत सुनने के लिए तीस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस तीसवें दिन भी राहु-केतु, बिजली और

बादल की कड़क आदि न जानें कितनी कितनी बाधाएँ हैं। हालत उनकी, उनके कहने के ही अनुसार, ऐसी है कि बस अब या तब। फिर भी न तो उनकी प्रेयसी पूरे चंद्रमा को देखे बिना अधीर हो सकती है और न वे स्वयं भी आँसू बरसा सकते हैं। कवियों की देखा-देखी हमारे समालोचकों का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परंतु इस अधूरे के लिए तो उन्हें इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा। जो हो, कवि और समालोचक को देखने का समय आज मुझे नहीं है। आज मैं इस अर्द्धचंद्र का आनंद नहीं छोड़ना चाहता। कबीर ने उपदेश किया है कि जो कल करना चाहते हो उसे आज करो; और आज के करने का जो काम है उसे अभी, इसी समय। तुरत दान, महा कल्याण! इस संसार में प्रत्येक पल प्रलयशील है; उसका बनना-बिगड़ना हम किसी भी क्षण देख सकते हैं। मैं नहीं चाहता कि पूनों के चंद्र को देखने के लिए चौबीस चौबीस घंटे के कितने ही दिन-रात आँखें मूँदकर बैठा रहूँ। मैं बैठा रहना चाहूँ तब भी यह बात होने की नहीं दिखाई देती। फिर किसी कवि अथवा किसी समालोचक के कहने से मैं आज का यह आनंद अन्य कितने ही कलों के लिए क्यों छोड़ दूँ? आज के आनद का उपभोग आज करूँगा, और कल परसों का क्रम बीच में ही भंग नहीं हो गया तो मैंने कुछ ऐसी शपथ नहीं ले रक्खी है कि फिर मैं आँखें खोलूँगा ही नहीं।

मैं समझता हूँ, सप्तमी नहीं तो वसंत की द्वादशी ही वह होगी, जिस दिन वाल्मीकि ने करुणा के खारी जल से अपनी दोनों आँखों का कीच धोकर पहले पहल रामचंद्र का दर्शन

किया। इस अवतार में भगवान् की द्वादश ही कलाएँ हैं न? मैं मान लेता हूँ, द्वादश नहीं और कम थीं। परंतु क्या कभी मैं यह भी मान ले सकता हूँ कि उनकी यह अपूर्णता अग्राह्य है? इस अपूर्णता को लेकर आज के इस घोर युग में भी हम सत्‌युग के, अच्छा सत्‌युग नहीं तो त्रेता के, उस साकेत-धाम में विहार करने लगते हैं, जिसे बड़े से बड़ा पुरातत्त्वदर्शी बाहर से झाँककर देख तक नहीं सकता। कुछ क्यों न हो, आज मैं किसी के भी बहकावे में किसी तरह नहीं पड़ना चाहता।

अच्छा हाँ, कृष्णचंद्र षोडशकलावतार थे। यह ठीक है। ऐसा होने पर भी, किंतु, यह भुला देना ठीक नहीं है कि इस पूर्णचंद्र के साथ कृष्ण जुड़ा हुआ है, शुल्क नहीं। महत्त्व वहीं है, जहाँ अंधकार में प्रकाश हो। विधाता ने केवल अंधकार अथवा केवल प्रकाश की ही सृष्टि की होती तो उसकी बहुमुखी प्रतिभा का मूल बहुत निम्नकोटि के कलाकार जितना भी न रहता।

ज्ञान अथवा अज्ञान के विषय में भी यही बात है। मंत्रद्रष्टा ऋषि 'नेति-नेति' कहकर जब आगे का अपना अज्ञान स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं, तभी यह बात हमारे मन में जमती है कि कहीं ज्ञान है तो यहीं, केवल इनके पास। परम ज्ञानियों और महात्माओं की सेवा और सत्संग में रहकर भी मनुष्य को शांति मिलती होगी, परंतु उस आनंद की तुलना दूसरी जगह नहीं पाई जा सकती, जिसे कोई अबोध शिशु अनायास एक घड़ी के भीतर दे देता है। हमारे साहित्य के सूर्य और चंद्र का अनुभव भी इस

विषय में ऐसा ही है। ज्ञान के प्रवीण उद्धव की बात इनमें से एक ने सुन तो ली, परंतु मन उनका वहीं लगा है, जहाँ उनका उपास्य बाल रूप में—

'शोभित कर नवनीत लिये'

घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि-लेप किये।'

दूसरे घर-बार-त्यागी साधु का हाल भी ऐसा ही है—

'घुँघराली लटें लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की;

निवछावर प्रान करे तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की।'

बात यह है कि ऊपर से मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न प्रतीत होता रहे, उसका भीतरी मन जानता है कि वस्तुतः एक अस्फुट शिशु से ज्ञान में वह किसी भी भाँति अधिक नहीं। इसीसे जब उनकी मंडली में वह पहुँच जाय, तब मानों समवयस्कों की शैली और संगति पाकर उसका भीतर-बाहर एकदम खिल पड़ता है। उस समय वह यह नहीं सोचता कि ऐसा बालगोपाल तो उसे अपने घर में ही मिल सकता था। इसके लिए हाथ में कमंडल लेकर और शरीर में भभूत रमाकर इतना भटकने की आवश्यकता उसे न थी। आज यह अपूर्ण, यह अविकच मुझे अनायास मिल गया है। आगे आनेवाले किसी पूर्ण की लालसा में आज का यह आनंद छोड़ देने की मूर्खता मैं नहीं करूँगा।

मेरे ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर सप्तमी के चंद्र की यह चाँदनी छिटकी पड़ी है। ऊपर से नीचे तक हलके वसंती रंग की होली खेलकर इसने मुझे सराबोर कर दिया। मेरे चारों ओर गेहूँ, चना, अलसी और सरसों के हरे हरे खेत हैं। पककर अभी पूरे नहीं हुए, इससे ये भी मेरे मन के साथ ठीक मेल खा जाते हैं। संध्या समय वायु के हिलकोरों के साथ जो शोभा इनकी थी,

इस धुँधली चाँदनी में अब वह दिखाई नहीं पड़ती। फिर भी इसके लिए मुझे शिकायत नहीं है। यहाँ मैंने बहुत कुछ देख-सुन लिया। अपरिहार्य होकर मेरे भीतर जो अस्पष्टता, जो अवगुण, जो त्रुटि, जो अपूर्णता, निवास कर रही है, उसके लिए आज मैं अपने को धिक्कारूँगा नहीं। वृक्षों के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के ये छोटे छोटे बच्चे यहाँ एक दूसरे से हिल मिलकर खेल रहे हैं। वसंत का भीना भीना पवन वृक्ष के पल्लवों को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट पोट होकर गिर गिर पड़ते हैं एक दूसरे के ऊपर। एक दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नहीं करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी कुछ ऐसा ही है। इस धुँधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एकरस देखकर मैंने भरत-मिलाप का नया दृश्य देख लिया। एक ही माँ के यमज लालों की भाँति ये एक दूसरे को भेंटते हुए छाती से छाती मिलाकर आपस में मिल गए हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अंधकार इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरंतन द्वंद्व मिट चुका है; दो होकर भी दोनों जैसे यहाँ एक हैं। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।

वसंत का कोई संदेश सुनने के लिए मैं घर से निकला था। कह नहीं सकता, कितना उसने अपने में छिपा रक्खा और कितना मुझे दिया। कुछ हो, जितना मुझे मिल गया है, वह भी मेरे लिए कम नहीं।

महादेवी वर्मा

गुरु-दक्षिणा

प्रस्तुत संस्मरण का नायक कोई जगत्-विख्यात महापुरुष नहीं, घीसा नाम का एक मलिन ग्रामीण बालक है, जिसके नाम अथवा शरीर किसी में भी 'कवित्व की गुंजाइश' नहीं। पर इस कवित्वहीन नाम और शरीर के पीछे ऐसा संवेदनशील हृदय छिपा हुआ है जो कविता में प्राण फूँकनेवाली मानवता का मूलाधार है और उसी का उद्घाटन भावुक लेखिका ने इन पंक्तियों में किया है। इन्हें पढ़कर संकोची, नम्र तथा आज्ञाकारी पर दृढ़ और हठी घीसा का चित्र तो हमारे सामने आता ही है, साथ ही लेखिका का वात्सल्य और ममता से पूर्ण व्यक्तित्व भी।

इस सरल ग्रामीण बालक की अद्भुत गुरु-भक्ति और अश्रुत-पूर्व त्याग को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो भावातिरेक से आर्द्र न हो उठेगा? यदि पाठक का वर्ण्य-भावना से अभिभूत हो जाना ही रसात्मकता की कसौटी है तो इस निबंध का प्रत्येक शब्द रस से आप्लावित है।

ग्रामीण वातावरण की सजीव पीठिका पर अंकित इस स्मृति-चित्र में कथा की साकांक्षता, कविता की भाव-प्रवणता तथा निबंध की आत्माभिव्यंजकता का सुंदर सामंजस्य है।

गुरु-दक्षिणा

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को संपूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हे-से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनंत जल-राशि में विलीन हो गया है।

गंगा-पार झूँसी के खंडहर और उसके आस-पास के गाँवों के प्रति मेरा जैसा अकारण आकर्षण रहा है उसे देखकर ही संभवतः लोग जन्म-जन्मान्तर के संबंध का व्यंग करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में संमिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े बड़े घरौंदों के समान लगनेवाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का झुंड पीतल-ताँबे के चमचमाते मिट्टी के नये लाल और पुराने बदरंग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैल और सूत में अद्वैत स्थापित करनेवाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती है। किसी की मोम-लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी की कड़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी छोटी लटें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और अधिक केंद्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह-रहकर हीरे-से चमक जाते हैं। और किसी के दुर्बल काले पहुँचे पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चंदन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े को ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेला-ककना की झनकार के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसेवाली तरकी धोती से कभी-कभी झाँक भर लेती है और किसी की ढारें लंबी जंजीर से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना-गूदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली उंगलियों और सफेद एड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती है।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुसकर घड़ा भर लेती हैं—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इंडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथा-भरी, कभी सुख की कथा-भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अंतर उन्हें ज्ञात है तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

ग्वालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते हैं, गड़रियों के बच्चे अपने झुंड की एक भी बकरी या भेंड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नज़र बचाकर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मज़दूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह, कभी-कभी 'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गाते-गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचकाकर चुप हो जाते हैं कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-परिचित समारोह के, मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गए तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गंभीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथों में कड़े पहने, धुले कुरते और ऊँची मैली धोती में नगर और ग्राम का संमिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँव तक लंबा कुरता पहने, खेत में डराने के लिए खड़े किए हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य-संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल, रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की उपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। संध्या के लाल सुनहली आभा वाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिप कर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाव वाला कुछ चिंतित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज-कलम आदि सँभालकर नाव पर रखकर बढ़ते अंधकार पर खिजला कर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनानेवाले विधाता पर, यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लंबे वर्ष काट आई है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परंतु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परंतु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अंधकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आता देख ठिठक रहे। साँवले, कुछ

लवे-से मुखड़े में पतले स्याह ओठ कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूकारहित अंगों को भली भाँति ढक लिया था, परंतु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कंधे पर हाथ रख कर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाए हुए थी उसे मैंने संध्या के झुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुककर कुछ शब्दों और कुछ संकेत में जो कहा उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके।

दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबककर बैठे हुए देखा। पक्का रंग पर गठन में विशेष सुडौल मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखें जड़ी-सी जान पड़ती थीं। कसकर बंद किए हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हड्डियों वाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कंधों से, रक्तहीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनों-युक्त हाथोंवाली पतली बाँहें ऐसी झूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बननेवाले की दो नकली भुजाएँ। निरंतर दौड़ते रहने के कारण उस लचीले शरीर में दुबले पैर

ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुंजाइश न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन-सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरंतर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती थीं। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सीख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था वरन् इसलिए कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितांत आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़कर समझा दी थी।—यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालनेवाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाए फिरती थी। उसे एक ओर लिटाकर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी तब पेट के बल घसिट-घसिटकर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोककर अनेक प्रकार की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्म-जात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी जाना।

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक। डलिया आदि बुनने का काम छोड़कर वह थोड़ी बढ़ईगीरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं,

एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती वधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुंदरी बालिकाओं को उपेक्षित और उनके योग्य माता-पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परंतु ऐसे अवसर पर भगवान की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट-किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफ़ेदी करके उसने कुछ ठाट-बाट से रहना आरंभ किया तब अचानक हैज़े के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारता-वश ही उसकी नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परंतु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तीता भी कर दिया। कहा 'हम सिंघ के मेहरारू होइके का सियारन के जाब'। फिर बिना स्वर-ताल के आँसू गिराकर बाल खोलकर, चूड़ियाँ फोड़ कर और बिना किनारे की धोती पहनकर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरंभ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद हुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद परंतु उस समय के संबंध में क्या कहा जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से यदि वह छः मास का समय रबर की तरह खिंचकर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गाँववालों का क्या दोष!

यह कथा अनेक क्षेपकोंमय विस्तार के साथ सुनाई तो गई

थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परंतु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिरकर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-संबंधी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था परंतु अधूरे का भी प्रभाव उस पर कम न था क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लेट को चमचमाती रखने और अपने छोटे-से-छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गंभीरता से निभाने में उसके सामने कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता था कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रखकर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ—परंतु उस उपेक्षिता पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्वह हो सकता है यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्तव्यपरायण घीसा की गुरु-भक्ति देखकर उसकी मातृ-भक्ति के संबंध में कुछ संदेह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर-मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था।

फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिए हुए ही साथियों को सुनाने के लिए गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता जहाँ न जाने कितनी बार दुहराए-तिहराए हुए कार्य-क्रम की एक अंतिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतलपाटी उतारकर बार-बार झाड़-पोंछ कर बिछाई जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे काँच की दावात, टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे हरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकालकर यथास्थान रख दी जाती और तब इस चित्र पाठशाला का विचित्र मंत्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता।

महीने में चार दिन ही मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी-कभी काम की अधिकता से एक आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला वह चित्र के एल्बम के समान निरंतर नवीन-सा लगता है।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों

का प्रबंध किए हुए ही उन बेचारों को सफ़ाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की मूर्खता की। दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने थे—केवल कुछ गंगा जी में मुँह इस तरह धो आए थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गया था, कुछ ने हाथ-पाँव ऐसे घिसे थे कि शेष मलिन शरीर के साथ वे अलग जोड़े हुए-से लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है गए अचंभा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे। पर घीसा ग़ायब था। पूछने पर लड़के काना-फूँसी करने का या एक साथ सभी उसकी अनुपस्थिति का कारण सुनाने को आतुर होने लगे। एक-एक शब्द जोड़-तोड़ कर समझना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—माँ को मजदूरी के पैसे मिले नहीं और दूकानदार ने नाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़कर पहले साबुन लेने गई। अभी लौटी है, अतः घीसा कपड़े धो रहा है क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ़ कपड़े पहन कर आना। और अभागे के पास कपड़े ही क्या थे। किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अँगौछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहा कर गीला अँगौछा लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आँखें ही नहीं मेरा रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने अपने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५–६ सेर जलेबियाँ ले गई पर कुछ तोलनेवाले की सफ़ाई से, कुछ तुलवानेवाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-झपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकीं। एक कहता था मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी और की याद आ गई। पर इस कोलाहल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था 'सार एक ठो पिलवा पाले है ओही का देय बरे गा होई' पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखई वाले छन्ने में दो जलेबियाँ लपेटकर वह माई के लिए छप्पर में खोंस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना माँ के, कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा ली। 'और चाहिए' पूछने पर उसकी संकोच-भरी आँखें झुक गईं—ओठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अङ्कित है जिसका भूल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण संभावना थी। घीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी परंतु देख-भाल का कोई ठीक प्रबंध न हो पाता था। दो-चार दिन

उसकी माँ स्वयं बैठी रही फिर एक अंधी बुढ़िया को बैठा कर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं बच्चों को बिदा दे घीसा को देखने चली; परंतु पीपल के पचास पग दूर पहुँचते-न-पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों से गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पंद्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके संनिपात-ग्रस्त होने का ही संदेह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत्-सी दौड़ रही थी, आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होनेवाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात-ग्रस्त होने से भी अधिक चिंता-जनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था पर पानी पास मिला नहीं और अंधी मनियाँ की आजी से माँगना ठीक न समझकर वह चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौटकर दरवाज़े से ही अंधी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धरकर यहीं पड़ा रहेगा पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गई। पार तो मुझे पहुँचना था ही पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझाकर जिससे उसकी स्थिति और गंभीर न हो जाय। पर सदा के

संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में गहरा रंग भरकर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठ कर दूर-दूर से आए हुए बहुत से विद्यार्थी हैं जो अपनी माँ के पास साल भर में एक बार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबरा जायँगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं।—और तब घीसा के समान तर्क की क्षमता किसमें थी! जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते उनके पास गुरु साहब को जाना ही चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके भगवान् जी गुस्सा हो जाएँगे क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि-आदि उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परंतु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार से चलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लानेवाले घीसा को जब उसकी टूटी खटिया पर लिटा कर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरांत घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँध कर उन्मत्त के समान घूमनेवाली गर्मी की हवा से उसका रोज संग्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते ही वह पाठशाला धूल-धूसरित होकर भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की

चादर में छिपकर, तथा कंकालशेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस श्रांत बालक को चिढ़ाने लगती ! तब मैंने तीसरे पहर से संध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया, परंतु पता चला घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बार-बार धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोव्रती अनागारिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भंग करने के लिए लू के झोंके आते हैं ।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाईं छूने के लिए दौड़ते हुए बालक के समान झपटकर उस दिन पर उँगली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न ! कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिकियाँ रख कर गिने जायँ या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण को ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे । ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था, अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिंतित-सी वहाँ से चली तब मन भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा-सा घिर-घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का संदेह हो रहा था—ऑपरेशन की संभावना थी। कब लौटूँगी या नहीं लौटूँगी यही सोचते-सोचते मैंने फिरकर चारों ओर जो

आर्द्र दृष्टि डाली वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भेंटकर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे कच्चे घर आकंठ मग्न हो गए थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कत्थई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज और खरबूज के खेत अपने सिरकी और फूस के मुठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे बिदा देना है यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदना-शक्ति से जान रहा था इसमें संदेह नहीं था। परंतु उस उपेक्षित बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सम्हाले था जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषत्-लक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बंद गुलाबी फूल जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है! मन का संदेह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को
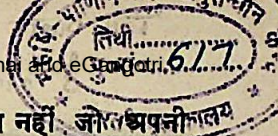
बनानेवाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रखकर निश्चिंत हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गई तब उसे अकेले ही खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नज़र थी। प्रायः सुना-सुना कर कहता रहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती है उनके लिए परोसा लगानेवाले पागल होते हैं। उसने कहा पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया—पर गुरु साहब को चिंता करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं यह देखने के लिए उँगली से कुछ निकाल भी लेना पड़ा।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोएगा—छुट्टी भर रोएगा, ले जावें तो वह रोज़ नहा-धोकर पेड़ के नीचे पढ़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी क़िताब पट्टी पर लिखकर दिखा सकेगा।

और तब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी ऐसा मुझे विश्वास नहीं, परंतु उस दक्षिणा के सामने संसार में अब तक सारे आदान-प्रदान फीके जान पड़े।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबंध कर मैं बाहर चली गई और लौटते-लौटते कई महीने लग गए। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही संभव था। जब फिर उस ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवान जी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था—आज वह कहानी दोहराने को मुझमें शक्ति नहीं है पर संभव है आज के कल, कल के कुछ दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीर-भाव से उस छोटे जीवन का उपेक्षित अंत बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।